आधुनिक संस्कृत-ग्रन्थ-माला

प्रथमपुष्पम्

पण्डितलक्ष्मीनारायणशुक्लप्रणीतम्

आत्मनि आत्मनिवेदनम्

(सानुवादम्)

नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठानम्, गोरखपुरम्

१९७९

प्रस्तुत रचना 'आत्मनि आत्मनिवेदनम्' एक दार्शनिक के व्यक्तिगत अनुभवों के साथ-साथ भारतीय चिन्तन में एक नवीन योगदान है ।.....प्रस्तुत कृति प्रत्यात्मवेद्य तत्त्व के आत्मानुभव का प्रकाशन है। एक योगी और चिन्तक का अनुभव किस प्रकार का होता है, प्रस्तुत रचना इसका एक दृष्टान्त है ।.....

इस कृति में जहां एक ओर भारत के प्राचीन दार्शनिक वैभव की झांकी मिलती है, वहीं दूसरी ओर एक योगी के वैयक्तिक अनुभवों की प्रस्तुति भी है ।.....

मूल्य 12.50

आधुनिक संस्कृत ग्रन्थमाला

प्रथम पुष्पम्

आत्मनि आत्मनिवेदनम्

एम्. ए., एल् एल्. बी., शास्त्रि-साहित्यरत्नाद्यनेकोपाधिभाजा

निखिलार्यवाङ्मय-प्राच्य-प्रतीच्यदर्शनकोविदेन

शुक्लोपाह्वेन पण्डित लक्ष्मीनारायण शर्मणा

विरचितम्

तदेतद्

गोरखपुर विश्वविद्यालय-संस्कृत विभागाध्यापकेन

एम्. ए., पी एच्. डी. इत्युपाधिधारिणा

डा० करुणेश शुक्लेन

हिन्दी भाषया अनूद्य सम्पादितम्

प्रकाशनस्थानम् :

नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठानम्, गोरखपुरम्

२०३६

मूल्यं सार्द्धद्वादश रूप्यकाणि

Modern Sanskrit Works Series Vol. I

ĀTMANI ĀTMANIVEDANAM

By

Pt. LAKSHMI NARAIN SHUKLA

M. A., LL. B; Sahityaratna, Shastri.

Translated into Hindi and edited

By

Dr. KARUNESHA SHUKLA

M. A., PH. D.

Reader in Sanskrit, Pali and Prakrit,

UNIVERSITY OF GORAKHPUR, GORAKHPUR

Published By

NAGARJUNA BUDDHIST FOUNDATION

GORAKHPUR

1979

Published on Behalf of

NAGARJUNA BUDDHIST FOUNDATION

18, ANDHIARI BAGH, GORAKHPUR

By its Director :

Prof. S. N. SHARMA

© NAGARJUNA BUDDHIST FOUNDATION
GORAKHPUR

First Edition 1000 Copies, 1979.
Price Rs. 12/50

Prtnted at : **Vivekanand Printing Press, Golghar, Gorakhur-273001 (India)**

Foreword

By

Chairman, Nagarjuna Buddhist Foundation

Prof. P.V. Bapat

Svadhyaya, 772 Shivajinagar,
Poona–4

18·h Oct. 1978

Gorakhpur is situated in India near Kushinagar, one of the holiest places of Buddhim. It is but meet that some scholars wish to start here a centre of Buddhist studies, called **Nagarjuna Buddhist Foundation,** a centre where all aspects of Buddhism will be studied, including studies of Kanjur and Tanjur, the Tibetan lore of Buddhist learning. This requires money and support from the laity and Government. I have great pleasure in recommending the same.

I also hope great success to the Institute and its proposals for the same.

P. V. Bapat

निर्देशक का वक्तव्य

नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान की स्थापना भारतीय वाङ्मय और बौद्ध विद्या के पुष्कल रूप से संवर्धन एवं गवेषणादि के लिये अप्रैल-मई 1978 ई० में की गयी थी। इस संस्था के मुख्य उद्देश्यों में भारत एवं दक्षिण-पूर्व-एशिया में बौद्ध धर्म, दर्शन और संस्कृति के उत्थान का अध्ययन, बौद्ध दर्शन एवं सम्बद्ध भारतीय प्रस्थानों के उच्च अध्ययन के लिए एक शोध-संस्थान, पाण्डुलिपि-पुस्तकालय एवं कला-संग्राहलय की स्थापना, सभी धर्मों की बुनियादी समानता को प्रदर्शित करने के लिये उनका तुलनात्मक अध्ययन, एक ध्यान-केन्द्र एवं पर्यटक केन्द्र की स्थापना, शोध-पत्रिका, नूतन साहित्य एवं अध्ययनों का प्रकाशन, अप्रकाशित बौद्ध एवं अन्य दर्शनों के ग्रन्थों का प्रकाशन, नियमित रूप से बौद्ध धर्म, दर्शन और संस्कृति के अखिल भारतीय सम्मेलनों का आयोजन तथा अन्य लोकोपकारी कार्य भी सम्मिलित हैं।

संस्था की त्रैमासिक शोध-पत्रिका-'प्रज्ञालोक' के प्रथम दो अंकों के सम्मिलिताङ्क एवं प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन इसी योजना के अन्तर्गत हो रहा है।

प्रस्तुत कृति के रचयिता पं० लक्ष्मी नारायण शुक्ल भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के मर्मज्ञ तथा चिन्तक मनीषी थे। 'राष्ट्रतन्त्र' उनकी प्रथम कृति है जिसमें भारत की दार्शनिक विरासत के आलोक में उसकी राजनीतिक विचारणा का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत रचना 'आत्मनि आत्मनिवेदनम्' एक दार्शनिक के व्यक्तिगत अनुभवों के साथ-साथ भारतीय दार्शनिक चिन्तन में एक नवीन योगदान है जो नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान द्वारा 'आधुनिक संस्कृत ग्रन्थमाला' के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित की जा रही है।

इस रचना के अनुवाद एवं प्रकाशन के लिये इसके रचयिता श्री लक्ष्मी नारायण शुक्ल ने अनुमति देकर नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान को अनुगृहीत किया है, इसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

यह हमारे लिये अत्यन्त दुःख और हार्दिक वेदना का विषय है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन काल में ही इसके रचयिता गोलोकवासी हो गये और वे इस ग्रन्थ को मुद्रित रूप में नहीं देख सके। हम ईश्वर से उनकी आत्मा की चिरशान्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

उनकी दूसरी दार्शनिक कृति 'तत्त्वभारती' का प्रकाशन भी प्रतिष्ठान की योजनाओं में सम्मिलित है और शीघ्र ही उसका प्रकाशन हो सकेगा ऐसी आशा है।

इस कृति को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें सन्तोष का अनुभव हो रहा है। आशा है प्रतिष्ठान की प्रकाशन योजना में अन्य ग्रन्थ भी शीघ्र प्रकाशित होंगे।

भवदीय :

शिवानन्द शर्मा

निर्देशक

नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान

गोरखपुर।

बुद्ध पूर्णिमा 2036

18 अँधियारी बाग,

गोरखपुर-273001

प्रकाशक का वक्तव्य

पुरोवाक्

दर्शन तत्त्वालोचन और वस्तु-परामर्श की अनुभव-प्रक्रिया का नामान्तर है। स्वानुभवगोचर तत्त्व बौद्धिक विचारणा का विषय नहीं, स्वरूप-साक्षात्कार का विषय होता है। प्रस्तुत कृति इसी प्रत्यात्मवेद्य तत्त्व के आत्मानुभव का प्रकाशन है। एक योगी और चिन्तक का अनुभव किस प्रकार का होता है, प्रस्तुत रचना इसका दृष्टान्त है।

एक साधक, योगी, किन दशाओं, सीढ़ियों से गुजरता है, किस मार्ग से चलता है, और परमार्थ का बोध किस प्रकार प्राप्त करता है, 'आत्मनि आत्मनिवेदनम्' इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है।

इस कृति में जहां एक ओर भारत के प्राचीन दार्शनिक वैभव की झांकी मिलती है, वहीं दूसरी ओर एक योगी के वैयक्तिक अनुभवों की प्रस्तुति भी है।

भाषान्तर में, जो सत्रह वर्ष पूर्व किया गया था, भावानुवाद को भी स्थान दिया गया गया है और बोधनी यत्र-तत्र अनभिव्यक्त भावों को प्रदर्शित करती है।

खेद है कि मूल कृतिकार इस ग्रन्थ को प्रकाशित रूप में देख नहीं सके। यह रूपान्तर उन्हीं को सादर समर्पित है। आशा है सुधी पाठक अनुवाद की त्रुटियों को क्षमा करेंगे और अपने सुझावों से अनुगृहीत करेंगे।

अन्त में, विवेकानन्द प्रिंटिंग प्रेस के अधिष्ठाता श्री नागार्जुन को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अत्यन्त रुचि लेकर इस पुस्तक के मुद्रण को समय से पूरा करने में सभी प्रकार से सहयोग दिया।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

भवदीय :
करुणेश शुक्ल
महामंत्री
नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान
गोरखपुर

बुद्ध पूर्णिमा 2036 वि०
18 अँधियारी बाग,
गोरखपुर-273001

अनुक्रम

अनुपम-शिव-शीलं निम्नगातीरसंस्थं
कलिमल-हर-शोभं ज्ञान विज्ञानपारम् ।
अतिशयकरुणाढ्यं लोककल्याणनिष्ठं
धृत-ऋषि वर-कायं सद्गुरुं *सन्नतोऽस्मि ॥

"तुभ्यं ददामि प्रभवे परमेश्वराय" ।

* श्री श्री १००८ योगिराज देवरहवा बाबा

आत्मनि आत्मनिवेदनम्

ਸ਼ਾਹਮੁਖੀ ਸੰਸਕਰਣ

अथादौ सद्गुरोः स्तुतिः

प्रारम्भ में सद्गुरु की स्तुति (की जाती है) —

महाराज, श्रीमन्, जगति जनहेतोस्तव कृपा
प्रकुर्वन्ती श्रेयः प्रियमपि दिशन्ती विजयते ।
निरीहो निष्कामस्तदपि परदुःखेन द्रवितः
परित्राणे लीनस्त्वमसि परितापावृतनृणाम् ॥

हे महाराज, श्रीमन्, संसार में लोगों केलिए कल्याण करती हुई और प्रिय का उपदेश देती हुई आप की कृपा आगे बढ़ रही है । इच्छाओं और कामनाओं से शून्य होते हुए भी दूसरे [संसारी] व्यक्तियों के दुःखों से द्रवित हो कर [त्रिविध] दुःखाग्नियों से घिरे हुए लोगों की रक्षा में आप [सर्वदा] लगे हुए हैं ॥ १ ॥

निरालम्बो लाभं सपदि लभते यस्य कृपया
सुशीलो मन्दो वा सुमति-गति-हीनोऽपि मनुजः ।
रसानां वात्सल्यं पिबति सुजनो यत्र सुरसं
तमीडे देवर्षिं परमशुभदं भक्तपितरम् ॥

सुशील [सच्चरित्र] या मूढ, सद्बुद्धि और सद्गति से हीन मनुष्य [अन्य] आश्रयों से हीन होता हुआ भी जिनकी कृपा से शीघ्र लाभान्वित होता है, जहाँ सज्जन रसों[1] में उत्तम वात्सल्य-रस का पान करता है, उन परम शुभकारी, भक्तों के पिता, देवर्षि को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

विदेहस्त्वं बाबा प्रकृति-विजयी दिव्यनयनः
दिशो वै वस्त्रं ते निवससि तुरीये निरशनः ।
धुरीणो धर्माणां निगम-पथ-नेता श्रुतिधरः
तपस्वी योगीशः परहितरतो नीतिनिपुणः ॥

हे बाबा, आप विदेह[2], प्रकृति को जीत लेने वाले[3] और दिव्य दृष्टि से युक्त हैं । दिशायें ही आप के वस्त्र हैं और भोजन के बिना ही, आप तुरीय[4] [ब्रह्म] तत्त्व में सदा निवास करते [निरत रहते, ध्यान-मग्न, ब्रह्मभूत] हैं । आप धर्मों[5] में धुरीण [धर्मों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले], वैदिक मार्ग के [लोक में] अग्रणी, तपस्वी, योगीश [योगियों के मालिक यानी योगियों में श्रेष्ठ],सदा दूसरों के हित में लगे हुए [और लौकिक] नीतियों में [भी] कुशल हैं ॥ ३ ॥

प्रभो ! लक्ष्मी-नारायण इति शुभं नाम विदितम्
परन्त्वस्मिंल्लोके प्रभु-पद-प्रसादादपि कथम् ।

अलक्ष्मी-निर्नारा-यण इति मदीयः कुसमयः
बृहद् वैचित्र्यं तन्मम हृदयबाधां परिहर ॥

हे प्रभो ! इस संसार में [मेरा] लक्ष्मी-नारायण यह शुभ नाम [लोगों को] विदित है। किन्तु प्रभु की कृपा रहते हुए भी कैसे [मैं] अलक्ष्मी निर्नारायण[6]—[हो गया] हूँ, यह मेरा कुसमय [आ गया] है। यह बड़ी विचित्रता है। तो [हे प्रभु] आप मेरी हृदय-बाधा को दूर करें ॥ ४ ॥

जगल्लीला-शीला प्रकृतिरपराऽव्यक्तविषया
वितन्वन्ती भूमौ भवरुगभिशापं विहरति।
जनानां निस्तारः कथमिति प्रभो ! चेज्जनपदे
त्वमेकः सद्वैद्यः प्रभवसि परित्रातुमचिरम् ॥

जगत् की लीला ही जिसका स्वभाव [शील][8] है ऐसी अव्यक्त विषयों वाली अपरा प्रकृति भूतल पर भव-रोग के अभिशाप (दुःख, पीड़ा) को फैलाती हुई विहार कर रही है। हे प्रभु, ऐसी दशा में, [सांसारिक] लोगों का निस्तार कैसे हो ? यदि ऐसा हो तो, आप ही लोगों को शीघ्र (भवरोग से) बचाने के लिये एक अच्छे समर्थ वैद्य हैं ॥ ५ ॥

महात्मन्निःसीमं विमलमहिमानं तव भुवि
कथं ज्ञातुं शक्ता भवति जनमेधा परिमिता।
वितर्को वा तर्को न खलु कुशलो यस्य विषये
दुरूहं तं देवं जन-हृदय-नाथं भज मन ॥

हे महात्मन्, भूतल पर आप की विमल, असीम महिमा (कीर्ति) को परिमित मानवीय बुद्धि कैसे जान सकती है ? जिनके विषय में (विचार करने के लिये) तर्क-वितर्क भी समर्थ नहीं हैं, हे मन, उन तर्कातीत, लोगों के हृदयों के स्वामी (ज्ञान-विज्ञानतीर्ण) देव (महर्षि) को भजो ॥ ६ ॥

महर्षे ! त्वां वन्दे नयन-जल-पातेन शिरसा
कृपादृष्टिर्भूयात् सपदि मयि दीनेऽपि विकले।
विधातुर्दुर्लेखं परिहरति नूनं तव दया
त्वदन्यं कं याचे सदयहृदयः कस्त्वदपरः ॥

हे महर्षि, अश्रु-पात से युक्त, नतमस्तक हो, मैं आप की वन्दना करता हूँ [जिससे] शीघ्र मुझ दीन [और] विकल जन पर भी [आप की] कृपा-दृष्टि पड़े। निश्चय ही आप की दया विधाता के दुर्लेखों को दूर कर देती है। [अतः] आप को छोड़ दूसरे किस से याचना करूं, [क्योंकि] दयालु हृदय वाला आप को छोड़ दूसरा कौन है ? ॥ ७ ॥

प्रसादाद् बाबा ! ते मम सकलशङ्का विगलिता
नतोऽहं त्वां नित्यं गुरुवर ! प्रकाशस्य प्रभवम्।
किमाश्चर्यं मर्त्यस्तव शरण-दुर्गं व्रजति यत्
त्वदङ्के संयाते विहरति सदा भीतिरहितः ॥

हे बाबा, आपके प्रसाद से मेरी सारी शङ्कायें दूर हो गयीं [10]। गुरुवर, मैं प्रकाश के मूल उद्गम-आप के समक्ष सदा झुका हुआ हूँ [इस में] क्या आश्चर्य [है कि] यदि मनुष्य आपके शरण-दुर्ग में [सदा] जाता है, [क्योंकि] आपकी गोद में पहुंच जाने पर [वह] सदा निर्भय हो विचरण करता है ॥ ८ ॥

प्रथमस्तरंगः

विविधैर्जीवनाघातैर्मर्माहतस्य जीवस्याऽऽत्मनिवेदनमिदमीश्वरनिष्ठस्य। काश्च ता अनुभूतयो, निवेदितास्सन्ति ताः सर्वा निम्नांकितावल्या-सत्यपूतायाम्।

विविध आघातों से मर्माहत ईश्वर [के स्वरूप] में अवस्थित [संसारी] जीव का यह आत्म-निवेदन [स्वयं अपने से किया गया निवेदन, प्रार्थना] है। वे कौन-सी अनुभूतियां हैं [ऐसा प्रश्न उठने पर] वे सभी सत्य से पवित्र बनायी गयी निम्नलिखित श्लोकावली में निवेदित [की गयी] हैं।

मया प्रार्थितः पार्वती-प्राण-नाथः
सदा श्रद्धया सन्धृता सन्तवाणी।
तथापीदृशी मे दशा व्याकुलोऽहम्
जनाकीर्णलोकस्तरे पुण्यदेशे ॥

मैंने पार्वती के प्राणों के स्वामी [पार्वती-प्रिय, उमानाथ, भगवान् शंकर] की प्रार्थना की, सदा श्रद्धापूर्वक सन्तों की वाणी को [सुनकर उन्हें] अच्छी प्रकार धारण [भी] किया[2] किन्तु फिर भी मेरी ऐसी [दयनीय] दशा है, मैं मनुष्यों से भरे हुये, लोक-स्तर पर पुण्य देश में [अपनी दीन स्थिति को देख] व्याकुल [हो घूम रहा] हूँ ॥ १ ॥

गृहस्थाश्रमे कण्टकाकीर्णमार्गे
चलन्नित्यमिच्छाकुलो दुःखितोऽहम्।
यदा लब्धशाकस्तदा नैव क्षारो
यदा क्षारलब्धिस्तदा शाक-चिन्ता ॥

तमाम काँटों से भरे हुए गृहस्थाश्रम [रूपी] मार्ग में चलता हुआ, नित्य ही इच्छाओं से आकुल मैं दुःखी बना हुआ हूं। जब शाक मिलता है तो नमक नहीं [मिलता], जब नमक मिला तो शाक की चिन्ता खड़ी हो जाती है [अर्थात् एक दुःख के बाद दूसरे दुःख, दूसरी चिन्ता ने आ घेरा, कभी भी जीवन में शान्ति नहीं मिली [3]] ॥ २ ॥

मदीया शरीरस्थितिर्दासवृत्तिः
सदा सङ्कटाकाकीर्ण-सङ्कीर्ण-क्लिष्टा।
प्रसन्नो न देवोऽनुकूलो न लोकः
क्रिया लाभदा नैव लाभस्य हेतोः ॥

सदा संकटों से भरी हुई, संकीर्ण और क्लेशों से संयुक्त दासता ही मेरे शरीर की स्थिति है। (आराध्य) देवता मुझसे प्रसन्न नहीं हैं, लोग मेरे अनुकूल नहीं हैं और लाभ के लिये (मैंने जो) क्रियायें कीं वे भी लाभप्रद सिद्ध नहीं हुईं [4] ॥ ३ ॥

मया याचिता सुन्दरी सर्वथैव
त्वया किन्तु दत्ता दरी विश्वनाथ ।
दरी सुन्दरीं कर्त्तुमन्यः समर्थ-
स्त्वदन्यः परः को न जाने तमीश ॥

हे देव, मैंने सर्वथा सुन्दरी माँगी थी, किन्तु हे विश्वनाथ, तुमने मुझे केवल दरी ही दी। दरी को सुन्दरी बनाने में तुमसे दूसरा कौन समर्थ है ? हे ईश, मैं उसे नहीं जानता [5] ॥ ४ ॥

जगन्नाथद्वारे तथा त्वन्नगर्यां
मया वर्णिता मत्कथा विस्तरेण ।
सदा संत-मञ्चेऽपि संप्रेषयामि
मनोभावपत्रं प्रभो विश्वनाथ ॥

जगन्नाथ के द्वार पर तथा तुम्हारी [काशी] नगरी में मैंने अपनी [दुःखमयी करुण] कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया और हे विश्वनाथ, सदा संत के मंच पर भी अपने मनोभावों के पत्र को भेजता रहता हूँ [6] [किन्तु इन सबका कुछ भी परिणाम नहीं निकला ॥ ५ ॥

अटव्यामटव्यामटन्निर्जनत्वं
प्रतीकं व्रजन्मन्दिरे मन्दिरे तु ।
भृशं तत्त्ववादश्च दृष्टः परन्तु
मनस्तापहारी न कुत्रापि दृष्टः ॥

एक वन से दूसरे वन में निर्जनता के पास घूमता हुआ [चिन्तामग्न हो] मन्दिरों में उस तत्त्व के प्रतीक को ढूढ़ा [8]। बहुत-सा तत्त्वज्ञान भी देखा[9], किन्तु मन के ताप [दुःख वेदना, पीड़ा] को दूर करने वाला [परमात्मा] कहीं भी दिखायी न पड़ा ॥ ६ ॥

तवालम्बनादेव निर्भीकभूतो
जगत्यत्र मन्ये न किञ्चित्तृणाय ।
तवाधार-निर्धारितं कित्विदानीं
मदीयं मनो नाथ दोलायमानम् ॥

तुम्हारे आलम्बन [सहारे] से ही निर्भीक हो, मैं इस संसार में किसी को तृणवत् भी नहीं मानता, किन्तु हे नाथ आपको आधार मानकर [आपको] अच्छी प्रकार पकड़े हुए मेरा मन अब इधर-उधर डगमगा रहा है [10] ॥ ७ ॥

न पश्यामि शक्तिं न साहाय्यमेकं
जगत्सागरे दुस्तरे दुःखरूपे ।
निराधारभूतस्तरङ्गैर्गृहीतो
निमज्जामि सीदामि नो पारयामि ॥

इस कठिनता से पार किये जा सकने वाले, दुःख रूप संसार-सागर में मैं किसी शक्ति और [समर्थ की] सहायता को नहीं देख रहा हूँ। किसी आधार के बिना तरंगों से पकड़ा गया मैं डूब रहा हूँ, किन्तु [इस संसार-सागर से] पार नहीं हो पाता हूँ ॥ ८ ॥

अशक्तस्य बन्धुर्जगत्यत्र नैव
गृहीतश्च तस्माच्छरण्यं त्वदीयम् ।
चिरादस्मि द्वारे न दृष्टा दया ते
वरं तज्जगद् यत्र नो दीनबन्धुः ॥

इस संसार में निर्बल का कोई बंधु नहीं है [11], इसलिये मैंने तुम्हारी शरण ली है। देर से मैं तुम्हारे द्वार पर "खड़ा" हूँ, किन्तु तुम्हारी दया नहीं दिखी। इससे अच्छा तो वह संसार ही है जहां कोई दीनबन्धु नहीं हैं ॥ ९ ॥ [12]

यथा निष्फलं क्रन्दनं बालकस्य
वने निर्जने मे स्तुतिस्तद्वदेव ।
उदासीनताऽऽक्रान्तचित्तश्चरामि
न श्री नैव श्रेयो न शं नैव शर्म ॥

जिस प्रकार निर्जन, एकान्त वन में किसी बालक का क्रन्दन (आर्तनाद, चिल्लाना) निष्फल होता है (अर्थात् उसे कोई नहीं सुनता और न उसका कोई सहायक ही होता है) उसी प्रकार [हे विश्वनाथ] तुम्हारे द्वार पर मेरी स्तुति भी [निष्फल ही] है[13]। उदासीनता से आक्रान्त-चित्त होकर और मैं इधर उधर [व्यर्थ] घूम रहा हूँ। मुझे न तो श्री [लक्ष्मी] ही मिली, न श्रेय [मोक्ष], न सुख ही मिला और न मेरा कल्याण ही हुआ ॥ १० ॥

निराशा मदीया निरस्ता न देवै
र्न मन्त्रै र्न यन्त्रै र्न तन्त्रै र्न चान्यैः ।
विशङ्के कदाचिद्रहस्यं तदेतत्
समर्थे कृताशस्य मूढादिसंज्ञा ॥

मेरी निराशा देवों [की आराधना], मन्त्रों, यन्त्रों, तन्त्रों और अन्य उपायों से भी समाप्त नहीं हुई। [14-क] मुझे शङ्का होती है कि कदाचित् इसका रहस्य यही है कि समर्थ [पुरुष] में आशा करने वाले [व्यक्ति] की ही मूढ़ प्रभृति संज्ञायें [हुआ करती] हैं ॥११॥ [15]

अभावान्मनुष्यः प्रपन्नत्वमेति
समर्थस्य पूजापरो दैन्यदग्धः ।
कदाचिन्नृलोकार्तिमत्यन्तघोरं
प्रपश्यन्समाराधनालोलुपस्त्वम् ॥

अभाव से मनुष्य प्रपन्न होता है [16], दीनता से जलाया गया वह समर्थ की पूजा करता है। [17] शायद मनुष्यलोक की अत्यन्त घोर वेदना और दुःख को देखते हुए तुम समाराधना (पूजा) के लालची (लोपुप) हो गये हो ॥ १२ ॥ [18]

गता धीरता चागता भीरुता मे
परं निर्गता नैव श्रद्धा धृता या ।
अशान्ति-प्रवाहे प्रविष्टोऽनभिज्ञो
न जाने क्व गच्छामि पारं किमस्ति ॥

[इन तमाम सांसारिक आपदाओं का निरन्तर सामना करते रहने पर] मेरा वैर्य [लुप्त हो] गया और उसका स्थान भय ने ग्रहण कर लिया, किन्तु मैंने [तुम्हारे प्रति] जो श्रद्धा धारण की थी, वह नहीं गयी। मैं इस अशान्ति के प्रवाह में प्रवेश कर गया हूं, किन्तु [इसकी गति से] अनभिज्ञ [ही] हूँ। मैं नहीं जानता कि कहां चला जा रहा हूँ, पार कौन-सा है ? १३ ॥

द्वितीयस्तरंगः

कर्म-विपाक-वशवर्त्ति जीवनमिति चेत् न । तदप्यसमञ्जसम् ॥

यदि यह कहा जाता है कि जीवन कर्म-विपाक के वश रहने वाला है तो [यह] भी नहीं [माना जा सकता] । वह [कर्म-विपाक का सिद्धान्त] भी असमंजस [ही] है ।

न प्रारब्ध कर्म्मास प्रारंभ-काले
न वा भोक्तृ-भोग्य-व्यवस्थापि काचित् ।
कुतः कर्म्मपाकस्त्वमेवासि सर्व
समीचीनता नास्ति प्रारब्धभोगे ।।

[सृष्टि के] प्रारम्भ-काल में प्रारब्ध कर्म नहीं था और न कोई भोक्तृ-भोग्य की व्यवस्था ही [थी][2] । [यदि] तुम्हीं सभी कुछ हो तो कर्म-विपाक कहां से होगा ? [3] अतः प्रारब्ध-भोग [के विचार] में कोई औचित्य नहीं है ॥ १४ ॥

हृदि त्वं बहिस्त्वं त्वमेवासि विश्वे
त्वदन्यच्च किं क्वास्ति त्वं नासि यत्र ।
प्रभुः प्रेरकः कारकः कस्य संज्ञा
कथं कर्म्मापाकस्य साधुत्वमस्ति ।।

हृदय में तुम्हीं हो, बाहर भी तुम हो, तुम्हीं सारे संसार में [व्याप्त] हो, तुमसे भिन्न, दूसरी वस्तु कहाँ है जहां तुम नहीं हो[4] ? [यदि] प्रभु प्रेरणा देने वाला है तो कारक [कर्म करने वाला] [उससे व्यतिरिक्त] किस [दूसरे] की संज्ञा [हो सकती] है ? [5] [इस लिए] कर्म-विपाक की साधुता कैसे [सिद्ध होती] है ? १५ ।।

न वा तद् व्यवस्था न वा तच्छरीरं
कृतं पूर्वजन्मन्यवद्यं हि येन ।
न ज्ञानञ्च तत्कर्म्मणां जीवनेऽस्मिन्
वृथा पीड्यते कर्म्म-व्याजेन जीवः ।।

[अब तो, इस जीवन में] न तो वह व्यवस्था है और न वह शरीर ही है जिससे पूर्व-जन्म में निन्दनीय कर्म किए गये । [पुनः] इस जीवन में उन कर्मों का ज्ञान भी [जीव को] नहीं रहता । व्यर्थ ही कर्म के बहाने जीव को पीड़ा दी जाती है ॥ १६ ॥

कथं श्लाघनीयं तु हेतो विशुद्धे—
रदृष्टस्य भोगो विना तस्य ज्ञानम् ।
इयं चिन्तनीया त्रुटिरत्वद्-विधाने
नृलोकेऽपि ज्ञानात्परं दण्डभोगः ।।

विशुद्धि के लिये, उसके ज्ञान के विना अदृष्ट का भोग किस प्रकार प्रशंसा का विषय बन सकता है ? तुम्हारे विधान में यह त्रुटि विचारणीय है [क्योंकि] इस मनुष्यलोक में भीं दण्ड का ज्ञान होने के अनन्तर ही उसका भोग होता है ॥ १७ ॥

अनादीति कर्म्मास्ति मर्त्यस्य बुद्धिः
प्रदत्ता त्वया यादृशी तादृशी सा ।
सदा कर्म-चक्रे स्थितश्चेशिताऽपि
न तर्कावहः कर्म्मणोऽयं प्रवाहः ॥

'कर्म अनादि है' यह मर्त्य की बुद्धि है और वह जैसी तुमने दी है वैसी ही है । ईशिता भी सदा कर्म के चक्र में ही पड़ा हुआ है । [8] [अतः] कर्म का यह प्रवाह तर्क-युक्त नहीं है ॥ १८ ॥

इदञ्चापि चिन्त्यं कथं मृत्युकाले
परित्रस्त-जीवे विवेक-प्रसङ्गः ।
वृथा दुःखदग्धार्तिविद्धाकुलस्य
पुनर्जन्महेतुर्भवेन्मृत्युकालः ॥

[इस दृष्टि से] यह भी विचारणीय है कि मृत्यु के समय वेदना और पीड़ा से सर्वथा त्रस्त जीव के विषय में विवेक का प्रश्न कैसे उठता है ? मृत्यु का समय दुःख [रूपी अग्नि] से जलाये गए, आर्ति (परेशानी) से बेधे गए, आकुल जीव के पुनर्जन्म का कारण व्यर्थ ही होता है [माना जाता है] ॥ [9] १९ ॥

त्वमेको न कश्चिद् द्वितीयो न बन्धः
किमर्थञ्च कस्मै प्रपञ्च-प्रयासः ।
अहन्ता धृता कस्य लाभस्य हेतो—
र्मुधा मर्त्यदेहे महत्तां विहाय ॥

[केवल] एक तुम्हीं हो, कोई दूसरा नहीं है और न तो कोई बन्धन ही है, फिर किस लिए, किस के लिए यह सभी प्रपंच के विस्तार का प्रयास किया जाता है ? व्यर्थ ही मरणधर्मा मनुष्य की देह में महत्ता को छोड़ कर अहन्ता किस लाभ के लिए धारण की गयी है ॥ २० ॥

तृतीयस्तरङ्गः

धिगेनामुपजीव्यताम्—यतः

इस उपजीव्यता [आश्रितभाव] को धिक्कार है—क्योंकि

मदीयं गतं जीवनं वञ्चनायाः
प्रवाहे प्रणष्टं पराशापरञ्च ।
स्वकीयोऽपि दृष्टः परश्चापि दृष्टः
परित्राणमेकं न कुत्रापि लब्धम् ॥

क्योंकि दूसरों की आशा पर अवलम्बित [सांसारिक कर्म] एवं वंचना के प्रवाह में नष्ट हुआ, मेरा जीवन चला गया [बीत गया] । अपने को भी देखा, दूसरे को भी देखा, किन्तु एक भी रक्षा की शरण कहीं नहीं मिली ॥ २१ ॥

कृतं किं मया गर्हितं वाऽप्यवद्यं
न जाने तथापीदृशी दुर्व्यवस्था ।
न विन्दामि तच्चेष्टितं यत् परन्तु
समायाति नेष्टं समग्रं पुरस्तात् ॥

मैंने क्या निन्दनीय और गर्हित कर्म किए—यह मैं नहीं जान पाता, किन्तु फिर भी ऐसी दुर्व्यवस्थाओं का सामना करना पड़ रहा है । जिसको पाने की चेष्टा किया उसे पा नहीं रहा हूँ, परन्तु सारा अनिष्ट एक साथ आगे चला आ रहा है ॥ २२ ॥

अनादि-कालाद्धि परोपकर्तुं
समुद्यतस्त्वं गुणिनां वरिष्ठः ।
व्ययादिदानीं किमु रिक्तपाणि-
र्धृतं त्वया यत्खलु मौनमेवम् ॥

गुणियों में श्रेष्ठ तुम अनादि काल से दूसरों का उपकार करने के लिये तैयार खड़े हो, तो क्या कोश (खजाने) के खर्च हो जाने से अब खाली हाथ हो गये हो जिससे हे विश्वनाथ, तुमने मौन धारण कर लिया है ॥ २३ ॥

सृष्टिर्विचित्रा रचिता समस्ता
दिव्यातिरम्या विविधा विभिन्ना ।
सम्भूतिभृत्त्वं भरसे च विश्व—
मस्मत्कृते स्थाणुरिवासि किन्तु ॥

दैवी, अत्यंत रमणीक, विविध प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपों वाली—इस समस्त सृष्टि[3] की तुमने रचना की है। और ऐश्वर्यों को धारण करने वाले, विश्वनाथ, तुम सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण करते हो, किन्तु हमारे लिये तुम स्थाणु के समान निर्दय, निष्ठुर, जड़ हो गये हो [4] ॥ २४ ॥

त्वं निष्ठुरः किन्तु दयालुनामा
व्याप्तोऽपि सर्वत्र सदैव लुप्तः ।
मय्येव तिष्ठन्नपि दूरवासी
श्लाघ्यं किमेतत्खलु कैतवं ते ॥

तुम निष्ठुर हो किन्तु दयालु नाम वाले हो, सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सदा लुप्त ही रहते हो। मुझमें (मेरे भीतर) रहते हुये भी दूर ही निवास करते हो—क्या तुम्हारा यह कपट प्रशंसनीय है ? २५ ॥

समीचीनमेतत्प्रभुः सर्वमेव
स एवास्ति भोक्ताऽपि भोग्यश्च भोगः ।
हरीच्छा यथा भोग्यभूमिस्तथा चेत्
प्रभुः स्वैरवृत्तो भवेद् दुर्भगोऽपि ॥

यह समीचीन (युक्तियुक्त) है कि प्रभु ही सब कुछ है, वही भोग करने वाला (भोक्ता), भोग्य पदार्थ और भोग सभी है। यदि यह कहा जाय कि जैसी हरि (प्रभु) की इच्छा होती है वैसी ही भोग्य पदार्थ की भूमि (पात्र) भी होती है तो प्रभु स्वैर (स्वच्छन्द) वृत्तियों वाला और दुर्भग भी हो सकता है ॥ २६ ॥

प्रभुर्न्यायतो निष्ठुरः किम्वदन्ती
यतः कर्म्मभोगो न लक्ष्यः कदापि ।
तदा मानवो भ्रान्त-बुद्धिर्विमूढो
मुधा तस्य निष्ठा महेशे रमेशे ॥

क्योंकि कर्म का भोग कभी भी क्षम्य (क्षमा के योग्य) नहीं होता अतः प्रभु न्यायतः निष्ठुर (निर्दय) हैं—ऐसी किम्वदन्ती (लोक में प्रचलित) है। ऐसी दशा में (कर्म भोग के क्षम्य न होने पर) मानव व्यर्थ भ्रान्तबुद्धि और मोहग्रस्त हो जाता है और महेश (शंकर) तथा रमेश (विष्णु) में उसकी निष्ठा (भक्ति) होती है जिससे उसे कोई लाभ नहीं होता, कर्म का भोग उसे करना ही पड़ता है ॥ २७ ॥

कृपा पारमेशी प्रपन्नस्य सद्यः
सुखं संहरत्याशु केचिद् वदन्ति ।
व्यवस्थेदृशी हन्त रक्त-प्रदिग्धा
प्रभुत्वं सदा निर्घृणत्वं सुनोति ॥

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि प्रपन्न (भक्त) के लिये ईश्वर की कृपा ही सभी कुछ है और वह (ईश्वर अपनी भक्ति प्रदान करने के पहले) उसके सभी सुखों को छीन लेता है। ऐसी व्यवस्था—दुःख की बात है, खून से सनी हुई है। प्रभुता सदैव निर्घृण भाव को पैदा करती है ॥ २८ ॥

कथं बुद्धिपूर्वं कृतं विश्वमेत—
न्नरीनृत्यते यत्र सर्वत्र दुःखम् ।
धृतं जीवकण्ठे भयञ्चापि दैन्यं
तवानन्दमूर्तेः परार्तिर्विनोदः ॥

यह विश्व, जहां सभी ओर दुःख का बार-बार नृत्य कराया जा रहा है बुद्धिपूर्वक सोच-विचार कर रचा गया कैसे माना जा सकता है ? और जीव के गले में भय और दीनता बांध दिये गये हैं, हे आनन्दमूर्ति तुम्हारे लिए दूसरों की आर्ति (पीड़ा, दुःख और सन्ताप) ही विनोद [का विषय] है ॥ २९ ॥

विमुक्तिं गतो रावणश्शक्तिशाली
न लब्धं तु दासत्वमप्यंगदेन ।
समुत्थाय प्रातर्बलिद्वारगन्ता
समर्थस्य बन्धुस्त्वमीशस्सदैव ॥

शक्तिशाली रावण मुक्त हो गया, किन्तु अङ्गद ने दासवृत्ति भी नहीं पायी। प्रातः ही उठकर बलि के द्वार पर [भिक्षा मांगने के लिये] जाने वाले हे ईश्वर, तुम सदा समर्थ [शक्तिशाली] के ही बन्धु (सहायक) होते हो [निर्बल] के नहीं ॥ ३० ॥

कथं क्षमावानुत वा समर्थो
नीतं पशुत्वं यदि गालवोऽपि ।
समर्थभूतोऽपि कृतापराधं
यो मृष्यते सः कथितः क्षमावान् ॥

आप कैसे क्षमा से युक्त या समर्थ कहे जा सकते हैं यदि, गालवमुनि भी पशु बना दिये गये ! समर्थ होते हुये भी अपराधी को जो क्षमा कर देता है वही शास्त्रों में क्षमावान् कहा गया है ॥ ३१ ॥

अयाचितस्सन् निर्हेतुकोऽपि
ददाति दीनाय स एव दाता ।
शुभस्तवैस्त्वं संस्तूयमानो
ददासि किं चन्दन-चर्चितोऽपि ॥

विना माँगे हुए भी, विना अपने किसी प्रयोजन से जो दीनों को दान देता है वही सच्चे अर्थों में दाता कहा कहा गया है। और तुम शुभ स्तुतियों से प्रार्थना किये जाने पर, चन्दन से सिक्त किये गये भी, क्या दे देते हो ॥ ३२ ॥

सद्ग्रंथसूक्तिः किल किम्वदन्ती
सन्तस्य वाणी किमु सान्त्वनैव ।
सर्वाणि नामानि तवाशुतोष
किञ्चार्थहीनानि हि निष्फलानि ।।
नाहं प्रभो चाटुपटुः प्रियम्वदः
प्रीणामि त्वां चाटुप्रियं कथं हरम् ।
त्वत्तो वसन्दूरमहं तु प्राकृतो
यत्नादपीदं मधुरं वचो न मे ।।

क्या सद्ग्रन्थों की अच्छी अच्छी उक्तियां किम्वदन्तियाँ मात्र हैं ? और सन्त की वाणी भीकेवल सान्त्वना ही है ? और हे 'आशुतोष', क्या तुम्हारे सभी नाम अर्थहीन और निष्फल ही हैं ।। ३३ ।।

हे प्रभु, मैं चाटुकारिता में प्रवीण, प्रिय वाणी बोलने वाला नहीं हूँ । फिर हे चाटुप्रिय हर, तुमसे दूर ही रहता हुआ अत्यन्त प्राकृत मैं तुम्हें कैसे प्रसन्न करूं ? बहुत प्रयास करने पर भी मेरी यह वाणी मधुर नहीं है ।। ३४ ।

चतुर्थस्तरङ्गः

सत्येवं करणीयं किं ? पौरुषमिति तत्रोपायस्तुः—

ऐसा होने पर क्या करना चाहिये ? पौरुष करना चाहिए यही सच्चा मार्ग है वहां (पौरुष करने में) यह उपाय है—

महदनर्थकरं विपदालयं
सुख-सुशान्ति-हरं पतन-प्रियम् ।
त्रिविध-ताप-कलाप-सहोदरं
न भज रे मन पामर ! संशयम् ॥

महान् अनर्थ का हेतु, विपत्तियों का घर, सुख और शान्ति को हर लेने वाला, जिसे पतन (गिरना) ही प्रिय है तथा जो त्रिविध दुःख-समूह के साथ ही उत्पन्न हुआ है, हे पामर मन, ऐसे संशय को मत भजो ॥ ३५ ॥

अनुदिनं विषय-स्फुरणं सखे
सदितरं - भवता बहुमन्यते ।
नयति तद्भवगर्तमनात्मकं
कथय किं न ततो विनिवर्तसे ॥

हे मित्र, प्रतिदिन सांसारिक विषयों के स्फुरण को, जो असत् अनित्य (तथा) सत् से भिन्न ही है, आप बहुमान (आदर) देते हैं । वह अनात्मरूप, संसार के गड्ढे की ओर आप को ले जाता है, बताओ तुम उससे विमुख क्यों नहीं हो जाते ? ॥ ३६ ॥

अभिरुचि र्भवतः स्वदितेऽनृते
समशिते रसिते परिशीलिते ।
किमधुनाऽपि त्वया परिपालिता
न शमिता पतिता न निपातिता ॥

आप की रुचि अनृत मिथ्या, असत्य, क्षणिक पदार्थों में बनी हुई है जिनका आपने आस्वादन किया है, जिन्हें खाया है, जिनका रस लिया है और जिनका सदा परिशीलन किया है फिर तुमने उसी का पालन क्यों किया और उस पतिता वृत्ति को अब भी तुमने शान्त नहीं किया और न ही उसे गिराया (दूर किया) ॥ ३७ ॥

बलवती पशुवृत्तिरधोमुखी
मलमयी विनिपात-प्ररोहिणी ।
सदवरोधकारी च तमोमयी
श्रृणु कदापि न सा प्रभवेन्मन ॥

बलयुक्त, मनुष्य को नीचे की ओर गिराने वाली, मलों से भरी हुई, पतन (गिरना) को ही उगाने वाली पशुवृत्ति, जो सत् (सत्य, नित्य) आत्मा को रोकने वाली और अन्धकार (अज्ञान) से परिपूर्ण है, हे मन, सुनो, वह कभी भी न बढ़ने पावे ॥ ३८ ॥

भयपदं भयमीत-स्वभावजं
स्वरचितं विषमं दुरतिक्रमम् ।
सकलपौरुष-पुञ्ज-विनाशकं
सपदि मित्र न किं विनिहन्यते ॥

भय का स्थान डरे हुये व्यक्ति के स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ स्वयं बनाया गया, अत्यन्त कठिन है और उसको बड़ी कठिनाई से पार किया जा सकता है। सम्पूर्ण पौरुष और बल के समूह को नष्ट करने वाले उस भयपद को हे मित्र, तुरन्त क्यों काट नहीं डाल रहे हो ? ॥ ३९ ॥

अशुचिरेव सदाऽभ्यसिता त्वया
विरचितं बहु मानस-मोदकम् ।
गतवती न तथापि दरिद्रता
व्रजसि किन्न स्वरूप-सुधानिधिम् ॥

सदा तुमने अपवित्र (कर्मों) का ही अभ्यास किया, बहुत से मानस-मोदकों की रचना की किन्तु तब भी दरिद्रता दूर नहीं हुई, (हे मन,) तुम अपने स्वरूप रूपी अमृत की राशि को क्यों नहीं प्राप्त हो जाते ॥ ४० ॥

हृदय-देश गते विगत-स्पृहे
त्वयि सखे विमले विनयान्विते ।
समुदिते च प्रशान्त-समस्तरे
स्फुरति सा शिवता सुखदा शुभा ॥

स्पृहाओं से शून्य, विमल, विनय से युक्त, हे सखे, हृदय देश में स्थित हो जाने पर और शान्त, सम, निश्चल होने पर तुम (मन) में वह सुख प्रदान करने वाली शुभ शिवता स्फुरित होती है ॥ ४१ ॥ [4]

असदहंव्यपदेशसमन्वितं
वपुरिदं सततं कलितं त्वया ।
न हि कृतं परमार्थ-पदे पदं
भज शिवं त्यज सीमित-भावनाम् ॥

'मैं' (अहम) इस व्यपदेश (नाम) से समन्वित इस शरीर को निरन्तर तुमने सजाया है। किन्तु परमार्थ के प्रदेश में पदार्पण नहीं किया। (हे मन) शिव को भजो, सीमित भावना को छोड़ो ॥ ४२ ॥ [5]

अध्यास-बुद्धि-परिवाहित मूढ जीव
प्रत्यागतिस्तु भवता क्रियतां हिताय ।
स्वीयं स्वरूपमपरं स्वधियाऽनुभूय
शान्तिं सुजन्म सुतरां सहसा लभस्व ॥

अध्यास बुद्धि से ले जाये गए मूढ जीव, अपने हित के लिये आप उस मार्ग को छोड़ कर लौट आवें । हे सुजन्म, अपने दूसरे (विमल, नित्य, शिव) स्वरूप को अपनी ही (विवेक-) बुद्धि से [6] अनुभव कर सहसा शान्ति का लाभ करो ॥ ४३ ॥

अध्यासः को नाम

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति शंकराचार्य्याः ।

अध्यास क्या है जो वैसा न हो, उसमें वैसी बुद्धि (अध्यास है)-ऐसा शंकराचार्य (का मत) है ।[7]

मनो नाम माया परेशस्य शक्ति-
र्गुणागार संसार-व्यापार-कर्त्री ।
तदेवास्त्यहंकार-रूपेण देहे
मनश्चित्तवृत्तिर्मनोबुद्धिरेव ॥

मन माया ही है जो गुणों का समूह, संसार के व्यापार को चलाने वाली परेश की शक्ति है । वही अहंकाररूप से देह में मन, चित्तवृत्ति और मनोबुद्धि कही जाती है ॥ ४४ ॥

किं चित्तवृत्ति-चलनेन बहिर्मुखेन
स्वीयानुवृत्तिविरहेण विकल्पनेन ।
दुःखालयो हि नितरामसदात्मरागः
स्वस्थः स एव निजरूप-कृताधिवासः ॥

अपनी अनुवृत्ति से अलग, विकल्पनाओं से संयुक्त, चित्तवृत्ति के बाहरी व्यापार से क्या (लाभ) ? असत् आत्माभिनिवेश एकदम दुःख का घर है । [8] स्वस्थ वही है जिसने अपने वास्तविक स्वरूप में निवास प्राप्त कर लिया है ॥ ४५ ॥ [9]

पञ्चमस्तरङ्गः

बुद्धि-विनिर्मितं हि जगदिदम्, बुद्धे र्व्यवसायात्मिकत्वात् ।

यह संसार बुद्धि द्वारा बनाया गया है (क्योंकि) बुद्धि व्यवयायात्मिका (निश्चय स्वभाव वाली) [1] है ।

बुद्धेः कार्यं व्यवसायी हेयः स सर्वथा सदा ।
व्यवसाय-तिरोधानात् संसारोऽपि पलायते ॥

बुद्धि का कार्य व्यवसाय है । [2] वह सदा सभी प्रकार से त्याज्य है । व्यवसाय का तिरोधान हो जाने से संसार भी भागने लगता है ॥ ४६ ॥

सर्वं तद् व्यवसायस्तु संसारोऽथवेश्वरः ।
धर्माधर्मौ च सुखदुःखे कर्माकर्मणी तथा ॥

संसार हो या ईश्वर, धर्म और अधर्म, सुख और दुःख, कर्म, अकर्म—यह सभी व्यवसाय ही तो हैं [3] ॥ ४७ ॥

महाभूतमयं स्थूलं सूक्ष्मञ्चाहंकारिकम् ।
जैवं बुद्धि-मयं शेयञ्चाशरीराद्विडम्बना ॥

महाभूतों से बना हुआ स्थूल तथा अहंकार से उत्पन्न सूक्ष्म (शरीर हैं) जैवी (कारण) शरीर बुद्धिमय है । (यह सभी) शरीर पर्यन्त (केवल) विडम्बना ही है ॥ ४८ ॥

अवतारं सर्वं मन्ये यत्किञ्चिज्जगतीतले ।
शक्तेर्न्यूनाधिकत्वाद्धि लघुता गुरुता मता ॥

जो कुछ पृथ्वी-तल पर वर्तमान है सभी को मैं अवतार (ही) मानता हूँ । [4] शक्ति के कम या अधिक होने से ही लघुता (छोटाई, हल्कापन) या गुरुता (भारीपन श्रेष्ठता) मानी गयी है ॥ ४९ ॥

अनृतं मन्यते सर्वं निर्विकल्पेतरञ्च यत् ।
संस्थितिस्तस्य विज्ञेया निर्विकल्पस्य विस्मृतिः ॥

निर्विकल्प से जो भिन्न (दूसरा) है वह सब अनृत माना गया है । [5] निर्विकल्प की विस्मृति [6] ही अनृत की संस्थिति है—ऐसा जनाना चाहिये ॥ ५० ॥

निर्विल्कपे विकल्पत्वं वैचित्र्यं तन्महत्खलु ।
निर्विल्पो विकल्पे हि गच्छञ्जीवः प्रकीर्तितः ॥

निर्विकल्प में विकल्प की उत्पत्ति यह महान् विचित्रता है । विकल्प में जाता हुआ (बँधता हुआ) निर्विकल्प ही जीव कहा गया है ॥ ५१ ॥ [7]

आवरणावृतो जीवो दिशा कालादि-सीमितः ।
तत्सीमाऽऽवृतबुद्धिश्च विकलीभवति वृथा ॥

आवरणों से घिरा हुआ दिशा, काल आदि से सीमित, और उन सीमाओं से घिरी हुई बुद्धि वाला जीव व्यर्थ ही विकल होता है ॥ ५२ ॥

जीवं विलोक्य मोदन्ते सर्वाः क्लिष्टा दुरत्ययाः ।
आशा--तृष्णा-जरा-भीति-व्यथा-बाधा-दरिद्रताः ॥

जीव को (दुःखी) विकल देख कर सभी क्लेश—आशा, तृष्णा, बुढ़ापा, भय, कष्ट, बाधा, और दरिद्रता-प्रसन्न होते हैं। वातस्व में ये सभी क्लेश कठोर और दुर्गम हैं ॥ ५ ३॥

अहं-बुद्धिर्यदा देहे जैवी संज्ञाऽभिवर्धते ।
तस्माद् युक्तिरियं कार्य्या कण्टकेनैव कण्टकम् ॥

जब देह में अहंबुद्धि रूप जैवी (जीव की) संज्ञा बढ़ती है तब काँटे से काँटे को निकालने की ही युक्ति करनी चाहिये ॥ ५४ ॥

यावदेव तु जीवत्वं तावदीशत्व-कल्पना ।
ईश्वरः कल्प्यते केन जीवत्वे विलयं गते ॥

जब तक जीवभाव है तभी तक ईश्वर भाव की भी कल्पना (सम्भव है)। जीव भाव के विलीन हो (मिट) जाने पर भला कौन ईश्वर की कल्पना ही करेगा ॥ ५५ ॥

निर्विकल्पो निराकारः स्वयमेव स्वयं स्थितः ।
स्फुरणा बैन्दवी तस्मिन् संसारस्य च कारणम् ॥

निर्विकल्प, निराकार स्वयं ही, अपने आप [में] स्थित है। उसमें बिन्दु का स्फुरण होता है। यही संसार का कारण है ॥ ५६ ॥

बैन्दवी याऽनुभूतिस्साऽहन्तारूपा विचारणा ।
दिक्कालादिविशिष्टत्वात् सा व्यक्तित्व-विमर्शिणी ॥

जो बिन्दु की अनुभूति है वही अहन्ता रूप वाली विचारणा है। दिशा, काल आदि से विशिष्ट होने के कारण वह व्यक्तित्व का विमर्श (प्रकाशन) करने वाली होती है ॥ ५७ ॥

अदृष्टस्याश्रुतस्यास्य विषयस्य स्मृतिः कुतः ।
स्मृतिं बिना मनः स्पन्दश्चाञ्चल्यं तद्विना नहि ॥

न देखे गये (अदृष्ट), न सुने गये (अश्रुत) इस विषय की स्मृति कहां से होगी ? स्मृति के बिना मन का स्पन्द और उसके बिना चंचलता भी नहीं होती ॥ ५८ ॥

स्वरूपं निर्विकल्पं हि निराकारं निरामयम् ।
स्वरूपस्य स्वयं सिद्धिः सदा सिद्धिः स्वरूपतः ॥

तत्त्व का स्वरूप निर्विकल्प, आकारशून्य और मलों से हीन, निरामय है। सदा स्वरूप की स्वयं सिद्धि होती है और निर्विल्प तत्त्व की स्वरूपतः सिद्धि होती है ॥ ५९ ॥

स्वरूपपाद्भिन्नभावत्वं नामतो बुद्धिरुच्यते ।
बुद्धेः कार्य्यमिदं सर्वं: सदसद्वा जडाजडम् ॥

(अपने) स्वरूप से भिन्न भाव को प्राप्त होना ही बुद्धि नाम से कहा जाता है । सत् या असत्, जड़ या चेतन—यह सभी बुद्धि का ही कार्य कहा जाता है[9] ॥ ६० ॥

बुद्ध्या बुद्धिं विजानीयात्परमार्थप्रियो नरः ।
शास्त्राभ्यासेन शुद्धेन मननेनाप्यतन्द्रितः ॥

परमार्थप्रिय व्यक्ति को चाहिए कि वह बुद्धि को बुद्धि से, शास्त्र के अभ्यास से और शुद्ध मनन से, अतन्द्रित (आलस्य रहित) होकर जानने की चेष्टा करें ॥ ६१ ॥

सदाचारं विना नूनं योगोऽयं तु भयावहः ।
आचारेण बिना चेदं मनो दुर्वृत्तिभाजनम् ॥

सदाचार के बिना यह योग निश्चय ही भयावह है । आचार के बिना यह मन भी अशुभ वृत्तियों का विषय बन जाता है ॥ ६२ ॥

शास्त्राणां भावगम्यत्वाद्भावालम्बनमुत्तमम् ।
शास्त्राणां भावगम्यत्वं राष्ट्रतन्त्रे प्रदर्शितम् ॥

शास्त्रों के भावगम्य होने से भाव का आलम्बन (सहारा लेना) उत्तम [होता] है । शास्त्रों का भावगम्य होना राष्ट्रतन्त्र[11] में दिखाया जा चुका है ॥ ६३ ॥

सर्वाण्येव च शास्त्राणि सन्मित्राणि परस्परम् ।
अन्योऽन्यं समाद्रियते तथाऽन्योऽन्यस्य पूरकम् ॥

सभी शास्त्र परस्पर सन्मित्र हैं । वे एक, दूसरे का आदर करते हैं तथा एक दूसरे के पूरक भी हैं[12] ॥६४॥

मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना सत्यमेतत्सुभाषितम् ।
तद्दृष्ट्या शास्त्रकारैस्तु साधनं विविधं स्मृतम् ॥

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' यह सुभाषित सत्य है । इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने विविध साधन-प्रणालियां बतायी हैं ॥ ६५ ॥

षष्ठस्तरङ्गः

इत्थं संविज्ञात-तत्त्वस्य प्रज्ञा निर्मला शुभा ।

इस प्रकार तत्त्व जान लेने वाले की प्रज्ञा निर्मल और शुभ हो जाती है[1]–

न मे बन्धुवर्गो न वा सौख्यसर्गो
न स्वर्गापवर्गौ धनं नैव धाम ।
किमानन्द-नादेन किं क्रन्दनेन
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ॥

न बन्धु वर्ग ही मेरा है, न सुखों की सृष्टि ही, न स्वर्ग और मुक्ति, धन और गृहादि ही मेरे हैं । आनन्द की वाणी या चिल्लाने (क्रन्दन) से भी क्या ? मैं निरन्तर परेश को भज रहा हूँ, परेश को भज रहा हूँ ।। ६६ ॥

न धर्मे रतिर्नाप्यधर्मे मतिर्मे
गतिं नैव पुण्ये न पापेऽनुरक्तिः ।
सुखञ्चासुखं किं प्रियञ्चाऽप्रियं किं
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ॥

न मेरा धर्म में प्रेम (रति) है, न अधर्म में मेरी बुद्धि ही रहती है, न पुण्य में मेरी गति है, न पाप में अनुरक्ति । सुख और असुख (दुःख) क्या है ? प्रिय और अप्रिय [भी] क्या है, [जब] मैं निरन्तर परेश को भज रहा हूँ, परेश को भज रहा हूँ ।। ६७ ॥

न वैराग्य-वाञ्छा न वा रागतृष्णा
मूमूर्षा न मे नैव जीवातुलिप्सा ।
न कर्म-प्रतिष्ठा न चाकर्मनिष्ठा
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ॥

न मेरी वैराग्य की इच्छा है और न ही रागों में तृष्णा । न मेरी मरने की इच्छा है और न ही जीने की लिप्सा (अभिलाषा) । न कर्म में मेरी प्रतिष्ठा·····है और न अकर्म में निष्ठा ही है । मैं निरन्तर परेश को भज रहा हूँ, परेश को भज रहा हूँ ॥ ६८ ॥

न भोगे हि सत्यं न वा त्यागमध्ये
सदा कर्मकौशल्यमेवात्र योगः ।
गृहे वा वने वा स्वदेशे विदेशे
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ।।

न भोग में ही सत्य है और न त्याग में। सदा कर्म में कुशलता ही यहाँ योग है। र में या वन में, स्वदेश में या विदेश में, मैं परेश को भज रहा हूँ, परेश को भज हा हूं ॥ ६९ ॥

गृहे नैव शान्तिर्न देवालये वा
विचित्रा तु सर्वत्र दृष्टा पिपासा।
यथा देववर्गस्तथा लोक-सर्गः
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ॥

न घर में शान्ति है, न देव-मन्दिरों में, सर्वत्र ही (कामना) की विचित्र पिपासा देखी यी। जैसा देवों का समूह है, वैसी ही लोकों की सृष्टि (संसार) भी है। मैं निरन्तर रेश को भज रहा हूं, परेश को भज रहा हूँ ॥ ७० ॥

पदं पारहंस्यं गृहस्थाश्रमो वा
समानं विलासोऽथ वा लास्यमस्ति।
महत्तत्त्वजन्यं जगज्जन्म चेदं
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ॥

चाहे परमहंस का पद हो या गृहस्थाश्रम, मेरे लिये विलास या लास्य सभी कुछ समान ही है। और यह जगत् का जन्म तो महत्तत्त्व (यानी बुद्धि) से ही हुआ है। निरन्तर मैं परेश को भज रहा हूं, परेश को भज रहा हूं ॥ ७१ ॥

मनस्! त्वय्यशोके गते स्वस्थभावे
न द्वन्द्वं न दैन्यं न तापो न तामः।
अतो भेषजं सेवनीयं त्वयैव
भजेऽहं परेशं परेशं भजेऽहम् ॥

हे मन! तुम्हारे शोक-हीन, स्वस्थ भाव को प्राप्त हो जाने पर, द्वन्द्व (द्वैतभाव), दीनता, ताप और ताम (संताप) नहीं रह जायेंगे। इस लिए तुम को औषधि का सेवन करना ही चाहिए। मैं निरन्तर परेश को भज रहा हूँ, परेश को भज रहा हूँ ॥ ७२ ॥

यत्र द्वैता स्थिति स्तत्र प्रमायाश्चिन्तनं भवेत्।
अद्वैतायामवस्थायां प्रमाणं किं प्रमाऽपि का? ॥

जहां द्वैत (दो भावों की) स्थिति है वहां प्रमा का चिन्तन होता है। अद्वैत अवस्था में प्रमाण क्या है और प्रमा भी क्या है? ॥ ७३ ॥

सप्तमस्तरङ्गः

निर्विकल्पस्य सत्स्वरूपस्यापि बहुधा निरूपणम् । अत्राऽपि, यथोच्यतेऽधस्तात् ॥

सत्स्वरूप होते हुए भी निर्विकल्प का भिन्न दृष्टिकोणों से बहुत प्रकार से निरूपण किया जाता है । इस स्थल पर भी (निरूपण वैसा ही है) जैसा कि नीचे कहा जा रहा है ।

स्वरूपं शब्द-बोधेन ग्रन्थे ग्रन्थे प्रपञ्चितम् ।
वस्तु-स्थितिः स्वरूपस्य मर्मज्ञेनैव भाव्यते ॥

शब्दों के योग से अनेक ग्रन्थों में (तत्त्व का) स्वरूप विस्तार से वर्णित हुआ है । स्वरूप की वस्तु-स्थिति मर्मज्ञ द्वारा ही जाती जाती है ॥ ७४ ॥

ध्याता न ध्येयो न च ध्यानभावो
न नामरूपं नवधा नुतिर्नो ।
उक्तः स भक्तो नहि यो विभक्तः
स्वतः स्वरूपा शिवता चकास्ति ॥

[स्वरूप में] न ध्यान करने वाला है, न ध्येय [वस्तु] और न ध्यान-भाव ही [है] । वहां नाम-रूप और नौ प्रकार का नमस्कार (नुति, भक्ति) भी नहीं है । भक्त वही कहा गया है जो [भव्य से] विभक्त (अलग) नहीं है । स्वतः स्वरूप वाली शिवता स्वयं प्रकाशित होती है ॥ ७५ ॥

न संकोचभावो विकासोऽपि नैव
न वा मानसी दृष्टि-सृष्टिः कदापि ।
मनो यत्र मूकं न बुद्धेर्विमर्शः
परावाग्विभूतिः स्वरूपस्य द्वारम् ॥

[वहां] न संकोचभाव है और न ही विकास [है], और न कभी मानसी दृष्टि-सृष्टि ही है । जहाँ मन मूक (गूंगा) हो जाता है और बुद्धि का विमर्श भी नहीं रहता, वह परा वाक् की विभूति ही स्वरूप [की प्राप्ति] का द्वार (मार्ग) है ॥ ७६ ॥

न चेदृक्त्वभावो न वेद्यत्वमादि
न वृत्तिर्न मूर्तिर्न वा स्पन्दनञ्च ।
न काचित्कला यत्र नैकाऽपि संख्या
तदेवास्त्यनन्तं परञ्चाऽद्वितीयम् ॥

जिसमें न ऐसापन है, न इतनापन आदि, जहां न मूर्ति है, न वृत्ति और न ही न्दन है। जहां कोई कला और एकादि संख्या भी नहीं है, वही अनन्त, पर, अद्वितीय निर्विकल्पतत्त्व) है ॥ ७७ ॥

अनन्ते यदा चित्तवृत्तिर्विलीना
न द्वन्द्वस्य बाधा विवेकः स एव ।
विवेकात्परं नैव किञ्चिद्वि सत्यं
वरिष्ठो विवेकः परेशों न चान्यः ॥

जब चित्तवृत्ति (जो सान्त, परिच्छिन्न है) अनन्त (पर तत्त्व) में विलीन हो गयी तो न्द्व को बाधा नहीं रह जाती, वही विवेक है। विवेक से बढ़ कर दूसरा कुछ सत्य नहीं , विवेक ही श्रेष्ठ है, और वही परेश है, दूसरा नहीं[3] [है] ॥ ७८ ॥

द्वैताधिपत्यं खलु देहभाने
मनोविकारश्च द्वितीयताऽपि ।
तत्त्वावबोधे नहि तत्र किञ्चित्
विचित्ररूपा परमार्थ-दृष्टिः ॥

देह का भान हो जाने पर द्वैत का प्रभुत्व, मन का विकार और द्वितीयता की प्रतीति होती है। तत्त्व का अवबोध हो जाने पर वहां कुछ नहीं रह जाता[4]। परमार्थ की दृष्टि अत्यन्त विचित्र रूप वाली है ॥ ७९ ॥

सम्प्रज्ञातं हृदयपटले किञ्चिदेवं प्रशान्तं
तत्त्वातीतं न खलु पिहितं काल-दिङ्नामरूपैः ।
दूरे यातं सकलमनृतं मानसी-वृत्ति-जातं
प्रायेणेदं कथितममृतं निष्कलं विश्वबीजम् ॥

हृदय-पटल पर कुछ ऐसा ही [जो] अत्यन्त शान्त, काल, दिक्, नाम-रुप से न ढका हुआ, तत्त्वातीत स्वरूप ही सम्प्रज्ञात है, जहां मानसी वृत्तियों से उत्पन्न सारा अनृत दूर चला जाता है[5]·····प्रायः, यही निष्कल, अमृत [तथा] विश्व का बीज कहा गया है ॥ ८० ॥

अष्टमस्तरङ्गः

तत्त्वे चेदृशे सति, अद्वैते द्वैतापत्ति प्रसङ्गः नात्र भयम्। अनिर्वाच्यं हि तत्

और तत्त्व के इस प्रकार के होने पर अद्वैत में द्वैतापत्ति का प्रसङ्ग उठ जाता है। यहाँ भय नहीं है। क्योंकि वह अनिर्वाच्य है[1]।

द्वैते चिदचित्सम्बन्धस्त्रैते चेश्वर-कल्पना।
जडाद्वैते चिदापत्तिश्चिदद्वैते जडस्य च ॥

द्वैत [सिद्धान्त में] चित् और अचित् का सम्बन्ध मानना पड़ता है और त्रैत (सिद्धान्त) में ईश्वर की कल्पना [करनी पड़ती है]। जडाद्वैत में चित् की आपत्ति होने लगती है और चिदद्वैत में जड़ की आपत्ति का प्रसङ्ग उठ जाता है ॥ ८१ ॥

चित्तत्त्वं सर्वगं सम्यक् सर्वेषां हि मतं खलु।
अतश्चिदन्यत्किञ्चिन्नो वस्तुतः संस्थितं क्वचित् ॥

सभी के मत से चित्तत्व अच्छी प्रकार से सर्वत्र वर्तमान माना गया है। अतएव चित् से भिन्न दूसरा भी वस्तुतः कहीं स्थित नहीं है ॥ ८२ ॥

इदमीदृशमिव—
यह कुछ इसी प्रकार-सा है—

यदा पूर्णकाम तदा कामना का
सदानन्दरूपस्य वै वेदना का।
मुमुक्षा हि का नित्यमुक्तस्वभावे
कला निष्कले का किया निष्क्रिये का ॥

जब पूर्ण काम है तो कामना क्या, सदा आनन्द रूप वाले को वेदना (दुःख) क्या ? नित्य मुक्त स्वभाव (स्वरूप) में मोक्ष की इच्छा क्या, निष्कल में कला और निष्क्रिय में क्रिया कैसी ? ॥ ८३ ॥

क्रियाशीलता नामधा शक्तिरेव
बिना शक्तिमन्तं कुतः शक्तिभानम्।
शिवो निष्क्रियत्वे क्रियत्वे च शक्तिः
शिवः शक्तिरेवापि शक्तिः शिवश्च ॥

क्रियाशीलता नाम से शक्ति ही है, शक्तिमान् के बिना शक्ति का भान भी कहाँ से [हो सकता है] ? निष्क्रिय हो जाने पर शिव और क्रियाशील हो जाने पर वही शक्ति है। शिव ही शक्ति है और शक्ति ही शिव ॥ ८४ ॥

अरूपा हि शक्तिस्तदुक्ताऽपि माया
सदा सत्स्वरूपे स्ववैषम्यकर्त्री ।
अरूपं विरूपं स्वरूप-स्वभवां
जगच्छक्तिमच्छक्तियुग्मं किलेदम् ॥

शक्ति अरूप है और उसे माया भी कहा गया है जो सदा सत्-स्वरूप (तत्त्व) में अपना ही वैषम्य [उत्पन्न] करती है। रूपरहित, विरूप एवं स्वरूप के स्वभाव वाला, शक्तिमान् और शक्ति का युग्म (जोड़ा) ही यह जगत् है ॥ ८५ ॥

स्वरूपाद् बहिर्गन्तुकामा हि शक्ति
विधत्ते स्वरूपाद्विभिन्नं विसारम् ।
विसारस्तु हानिर्हि शक्तेर्मुधैव
निरासो वरं मानसे मानसस्य ॥

स्वरूप से बाहर जाने की इच्छा करने वाली शक्ति स्वरूप से भिन्न विसार (विस्तार, प्रपंच) को धारण करती है। विसार तो व्यर्थ शक्ति की हानि ही है, मानस में मानस का निरास ही श्रेष्ठ है ॥ ८६ ॥

नवमस्तरङ्गः

अतो मन एव प्रस्थानभूमिः साधनमार्गस्य ।

इसलिए मन ही साधन-मार्ग की प्रस्थान-भूमि है ।

मनोवृत्ति-सोपान-मार्गेण गच्छन्
जगत्यागतोऽधस्सदा स्वैरवृत्तः ।
यते तत्पथारोहणेनादिवासं
प्रयातुं स्वरूपं सदा जागरूकः ॥

मनोवृत्ति रूपी सीढ़ियों के रास्ते चलते हुए, संसार में नीचे आया हुआ (उतरा हुआ), सदा स्वच्छन्द रूप से (अनियमित, अनुशासनरहित) व्यवहार करता हुआ, [अब] उसी रास्ते से [मन की वृत्तियों रूपी सीढ़ियों से] अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए सदा जागरूक हो, प्रयत्न करता रहता हूँ ॥ ८७ ॥

शरीरे शुभे मन्दिरे सुन्दरेऽहं
सुखासीनमीशं शिवं पूजयामि ।
अहन्ताऽऽहुतीमानसीवृत्तयस्तु
सपर्या-विधानं परं शोभनं मे ॥

इस शुभ, सुन्दर, शरीर रूपी मन्दिर में सुखपूर्वक बैठे हुए, सभी के ईश (शासक, प्रभु) शिव की पूजा करता हूँ । अहन्ता (मैं-पन) की ही आहुतियाँ (अग्नि में होम-सामग्री) हैं और मन की वृत्तियों द्वारा ही स्वागत और पूजा का विधान मेरे लिए अत्यन्त सुन्दर बना [हुआ] है ॥८८ ॥

विशीर्णे विजीर्णे मनः केतने तु
शयानः सदा क्लेशितोऽहं बिभेमि ।
समुत्पाट्य तत्केतनं कर्मयुक्तया
समूलं सदात्मावशेषं चिकीर्षुः ॥

इस गिरे हुए, अत्यन्त जर्जर, मनरूपी घर में सोते हुए, क्लेशों से पीड़ित मैं सदा डरा करता हूं । [और] उस घर को कर्म द्वारा जड़ से खोद, सदा केवल अपनी आत्मा [विशुद्ध चित्, वास्तविक स्वरूप]को ही शेष (प्रकाशित) करने का इच्छुक [हो रहा] हूँ ॥ ८९ ॥

अहं विमर्शस्त्विदमादिकं विना
दृष्टा न लोके युगपत्स्थितिस्तयोः ।
अतोऽपनीयं हृयुभयानुभावनं
ना संयमिना विवेकिना ॥

अहंता इदम् के विना लोक में नहीं देखी गयी है। ये सदा एक साथ ही रहते हैं। अतएव ज्ञान के चाहने वाले, संयमी और विवेकी पुरुष को उन दोनों [अहं-मम, इदम्] के अनुभावन को छोड़ देना चाहिए ॥ ९० ॥

आत्मानमीडे परमात्मरूपं
तरङ्गभूतं जलमेव सिन्धोः।
कैवल्यमेवं विदितं जलस्य
न वारिभेदो निहिते तरंगे॥

मैं आत्मा को प्रणाम करता हूं जो स्वरूपः परमात्मा ही है, जैसे तरङ्ग [नदी की लहरें] [स्वरूप] नदी का जल ही रहता है। इसी प्रकार केवल्य जाना गया है अर्थात् जिस प्रकार कल्पित तरङ्गें सिन्धु के जल में पृथक् प्रतीत होते हुए भी अन्त में उसी में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार नाना प्रकार की कल्पित, अज्ञान, संवलित उपाधियों द्वारा परमात्मा से पृथक् अन्य प्रतीत होने वाला आत्मा [जीव रूप में] भी ज्ञान द्वारा उपाधिविगम हो जाने पर अपने वास्तव स्वरुप में स्थित ही जाता है)[1]। तरङ्ग के जल में निहित रहने पर (विलीन हो जाने पर) जल का भेद नहीं रह **जाता** (उसी प्रकार कैवल्य प्रकाशित हो जाने पर आत्मा-परमात्मा के प्रतीयमान भेद का भी अपगम हो जाता है)[2] ॥ ९१ ॥

भगवति महदाख्ये किञ्चिदूहे तदेतत्
क्वचिदहमिदमादि स्पन्दसंकोचरूपा।
अपि भवजनिबिन्दुस्त्वं त्रिकोणं खगोलं
श्रुति-मुनि-बुध-बोध-स्वामिनी सर्वशक्तिः॥

हे बुद्धिरूपिणी भगवती, मैं जो थोड़ा बहुत सोच पा रहा हूं वह यह है कि तुम कहीं अहं रूप में हो, कहीं इदं रूप में हो, कहीं, स्पन्द और कहीं सङ्कोच रूप कही गयी हो। [और] तुम्हीं संसार की उत्पत्ति का कारण बिन्दु भी कहीं गयी हो, तुम्हीं त्रिकोण हो, तुम्हीं खगोल [कही गयी] हो तथा वेद, मुनि, ज्ञानी-सभी के बोध (ज्ञान) की स्वामिनी हो तथा तुम्हीं सर्व शक्ति [कही गयी] हो॥ ९२ ॥

किन्तु—

यावज्जीवं चाल्यते काययन्त्रम् एतदर्थमभ्यर्थना ।

किन्तु जीवन-पर्यन्त यह शरीर (रूपी) यन्त्र चलाया जाता है । इसीलिए यह सब प्रार्थना है ।

जीवत्वं पतनं घोरं क्लेशाय परिकल्पितम् ।
निद्रां विधूय त्वं लक्ष्मी-नारायणाशु जागृहि ।।

जीवभाव घोर पतन है जो क्लेशों [के भोग] के लिए ही कल्पित किया गया है । हे लक्ष्मीनारायण, निद्रा छोड़ कर तुम जल्दी जागो ।। ९३ ।।

भवदीयदयाबलसंवलितः
परिवारपुरे निवसामि प्रभो ।
अधुनाऽपि गता नहि मे भयदा
भवभीतिप्रदा दयनीयदशा ॥

है प्रभु (स्वामी, दुःख दूर करने में समर्थ ईश्वर) आपकी दया के बल से संयुक्त हो परिवार रूपी नगर में मैं निवास कर रहा हूँ । [किन्तु] मुझे भय प्रदान करने वाली, मेरी करुण दशा अब भी नहीं गयी ॥ ९४ ॥

अतएव पुनः कथयामि विभो
प्रणमामि नमामि भजामि गुरो ।
करुणार्द्रतया समुदारतया
कृपया मम संहर शोकरुजः ॥

इसलिए, हे विभु (सर्वत्र वर्तमान), गुरुदेव, मैं पुनः [अपनी करुण कथा आप से] कह रहा हूँ, आप को प्रणाम करता हूँ, नमस्कार करता हूं और आपकी ही सेवा कर रहा हूँ । [अतः] [हे गुरो] ! दयार्द्र हो, उदारता के साथ, कृपापूर्वक मेरे शोक रूपी रोगों को दूर कर दीजिए ॥ ९५ ॥

अपि च—

याचे न किञ्चिदपि त्वां हर ! मा तिरोभूः
देयं किमस्ति भवते त्विति चिन्तयामि ।
बुद्धि-प्रसूत-भव-बीजमिमामहंतां
तुभ्यं ददामि प्रभवे परमेश्वराय ॥

और भी,

मैं तुमसे कुछ मांग नहीं रहा हूं, हे हर, छिपो मत, आपके लिए [मेरे पास] देने योग्य क्या वस्तु है, यही सोच रहा हूँ । बुद्धि से उत्पन्न, संसार के बीज रूप अहन्ता को आप समर्थ, परमेश्वर को दे रहा हूँ ॥ ९६ ॥

॥ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु ।।

बोधनी

1- विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति साहित्य-शास्त्र में मानी गयी है। इसका सर्वप्रथम विवरण हमें भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है— विभावानुभावसञ्चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। अभिनवगुप्त के अनुसार रस अनिर्वचनीय हृदयाह्लादकारी, चर्वणा का विषय, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा अलौकिक चमत्कारकारी होता है। पण्डितराज जगन्नाथ चिति के भग्नावरणस्वरूप को ही रस का अभिधान देते हैं। पहिले रसों की संख्या आठ मानी गयी थी-शृंगार, वीर, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। शान्त की निर्वेदमूलकता के हेतु मम्मट ने उसे अन्त में नवम रस के रूप में वर्णित किया है-निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोपि नवमो रसः (काव्य प्रकाश, 4/35)। वात्सल्य की पृथक् रस के रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद में हुई। साहित्यदर्पणकार ने वात्सल्य को एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है-वत्सलश्च रस इति तेन स दशमो रसः। बड़े यथा पिता, गुरु प्रभृति का छोटे के प्रति प्रेम वत्सलभाव कहा जाता है और वत्सलतास्नेह ही इसका स्थायी भाव होता है। प्रस्तुत श्लोक का तात्पर्य यह है कि देवरहवा बाबा सभी लोगों को वत्सल भाव से देखते हैं और उनकी कृपादृष्टि समान रूप से सभी के ऊपर बनी रहती है।

2- मुक्तियाँ कई प्रकार की मानी गयी हैं जिनमें एक है-विदेहमुक्ति या जीवन्मुक्ति और जिन्हें ऐसी मुक्ति मिल जाती है वे विदेह या जीवनमुक्त कहे जाते हैं। प्राचीन शास्त्रों में जनक विदेह माने गये हैं। जो शरीर रहते ही सांसारिक आस्रवों से विमुक्त हो जाते हैं वे विदेह कहे जाते हैं।

3- प्रकृति विजयी का अर्थ है प्रकृति के नियमों पर विजय प्राप्त करने वाले।

4- तुरीय का शब्दिक अर्थ है-चौथा। यह ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-इन तीन अवस्थाओं में क्रमशः आत्मा के तीन पाद विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूप में अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु ये सभी अविद्यात्मक होते हैं और आत्मा का वस्तु-स्वरूप उसकी तुरीय-स्थिति ही है। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' प्रभृति वेदान्त-वाक्य इसी ओर संकेत करते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् और गौडपादकारिकाओं में आत्मा के इन तीन पादों के साथ तुरीय के स्वरूप का मर्म विशद रूप से प्रकाशित हुआ है। विश्व प्रभृति तीन अवस्थायें (आत्मा के त्रिविध पाद) सांसारिक और अविद्यासंवलित हैं, तुरीय ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है जिसे माण्डूक्योपनिषद् में एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंचोपशम तथा शिव स्वरूप बताया गया है। 'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" (मा० उ०, 7)।

5- धर्म ये यहाँ तात्पर्य है सभी पदार्थों का वास्तविक स्वरूप, उनका तत्त्व-स्वरूप। धर्म शब्द धृ धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका मूल अर्थ है धारण करना। साधारणतः आचार को ही, प्रजाओं को धारण करने के हेतु धर्म कहा जाता है—

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
उभयत्र सुखोदर्क इह च परत्र च ॥ (महाभारत)

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में 'धुरीणो धर्माणां' से आचार के वास्तविक स्वरूप को जानने के साथ ही, लौकिक पदार्थों की वास्तविक प्रकृति के स्वरूप-बोध की ओर संकेत है। योगभाष्य के रचयिता महर्षि व्यास ने भी धर्म के इसी अभिप्राय का अंगीकार किया है– योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ।

6- यह प्रयोग रचयिता के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखता है। अतः इसे अनुवाद में भी यथावत् रहने दिया गया है। आपाततः इसका तात्पर्य होगा—सांसारिक ऐश्वर्यों और धन आदि से हीन तथा बुद्धि-भ्रान्त-सा, विपत्तियों से मारा गया, सुखशून्य।

7- हृदय-बाधा से तात्पर्य है-मन का सन्देह और हृदय की अशान्ति।

8- सम्पूर्ण जगत् प्रकृति या माया से ही सम्भूत हुआ है। जगत्-प्रपंच की उद्भावना ही माया का स्वभाव है। प्रकृति शब्द से जगत्-कर्तृत्व का प्रकर्ष द्योतित होता है—

प्रश्च प्रकृष्टवाचकः कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिं सा परिकीर्तिता ॥ (देवी भागवत)

जगत्-प्रपंच का विकास ही माया का कार्य है। नाम रूप के द्वारा यह कार्य पूरा होता है (तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे आव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः)। अज्ञान, आकाश प्रभृति भी इसी के पर्याय हैं—

तदेतदव्यक्त शब्दनिर्दिष्टं क्वचिन्मायेति सूचितं, क्वचिदाकाशशब्दोदितम्·····।

माया रूपी मेघ सदा जगत् रूपी जल की वर्षा किया करता है—

माया में कोई वस्तु व्यक्त नहीं होती, एतदर्थ यह अव्यक्त कही गयी है। माया सत्, असत्, प्रभृति रूपों में वर्णित नहीं हो सकती, अतः अनिर्वाच्य (अनिवर्चनीय) भी कही जाती है—अनिर्वाच्या हि सा माया तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। (शङ्कराचार्य)।

9- द्र० ऊपर टि० 8।

10- तु० श्रीमद्भागवद्गीता, 18/73

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(हे अच्युत, मेरा मोह (अज्ञान) नष्ट हो गया, आपकी कृपा से आत्मविषयक स्मृति प्राप्त हो गयी, मेरा सन्देह छूट गया, [अब] मैं स्वरूप में स्थित हूँ और आपके कहे को पूरा करूंगा।

तथा योगवासिष्ठ—

नष्टो मोहः परं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ।
सम्पन्नोऽहं सत्यमत्यन्तमवपातधीः ॥
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि ।
निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव ॥

1- प्रस्तुत रचना का शीर्षक है—आत्मनि आत्मनिवेदनम् अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित, आत्मा का स्वयं प्रस्तुत किया गया निवेदन। यह बहुत कुछ रचयिता के अपने जीवन की बीती हुई घटनाओं से सम्बन्ध है जिसका निर्देश प्रतिपद उसने किया है (1-7, 21-34, 93-96) और प्रारम्भ में ही यह निर्देश भी कर देता है—'विविधैर्जीवनाघातैर्मर्माहतस्य जीवस्यात्मनिवेदनमिदनमिदमीश्वरनिष्ठस्य। काश्च ता अनुभूतयो,निवेदितास्सर्वास्ता निम्नाङ्कितावल्यां सत्यपूतायाम्।' परन्तु वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध होने के साथ ही यह 'आत्मनिवेदन' जगत् और जीवन के वास्तविक, सत्य स्वरूप का उद्घाटन करता और सभी प्रचलित साधन-पद्धतियों और पूजा-मार्गों की उपादेयता का प्रत्याख्यान करता है। विशुद्ध बौद्धिक साधन-मार्ग (बुद्धियोग) और तत्त्व-ज्ञान की प्रधानता ही इस ग्रन्थ का वैशिष्टय है। जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन संसार की अवस्था में तत्त्व-बोध के स्वरूप की ओर इंगित करता है।

2- तात्पर्य यह कि मैंने लोक-प्रचलित भक्ति-मार्ग और सन्त-समागम का पूर्ण रूप से उपयोग किया, सत्संगति का पूरा लाभ उठाया परन्तु भक्ति और सदुपदेश सभी व्यर्थ सिद्ध हुए।

3- अर्थात् सदा किसी न किसी चिन्ता और विषाद, दुःख और क्लेश का ग्रास बना रहा। तु० :

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तः
पारं गमिष्याम्यर्थार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति॥

4- भाव यह कि सर्वत्र निराशा और अन्धकार ही दिखायी दे रहा है। आराधना और भक्ति भी मेरे लिए निष्फल ही है, जो आराध्य देव (प्रभु, आशुतोष विश्वनाथ) भी मेरे ऊपर प्रसन्न नही हो सके। लौकिक जन भी मेरे प्रतिकूल हैं। सभी प्रयास, सभी क्रियायें भी निष्प्रयोजन सिद्ध हो रही हैं।

5- यह लेखक के व्यक्तिगत जीवन से अत्यन्त निकट, अभिन्न रूप से सम्बन्ध है। एतदर्थ इस श्लोक के शब्दों को भी अनुवाद में यथावत् रहने दिया गया है। आपाततः 'सुन्दरी' सांसारिक सौख्य और आनन्द-मंगल का प्रतीक है और 'दरी' संसार के पदार्थों की असारता और तत्त्वहीनता का द्योतक। सुन्दरी से शैवागमों में वर्णित 'त्रिपुरसुन्दरी' का तात्पर्य भी लिया जा सकता है।

6- सन्त से तात्पर्य है—देवर्षि श्री १००८ श्री देवरहवा बाबा, जिनके पास लेखक ने कई पद्यबद्ध पत्र (संस्कृत में) प्रेषित किये हैं और प्रारम्भ में सद्गुरु-स्तुति उसी पत्रावली का एक अंश मात्र है।

7- अर्थात् जहां कोई प्राणी नहीं था, केवल निर्जनता (एकान्त) ही विद्यमान थी।

8- देवालयों में उस पारमार्थिक तत्त्व को, प्रतीकों, संकेतों और तमाम लौकिक उपायों से ढूंढ़ा।

9- कोरा तत्त्वज्ञान (शास्त्रों का अध्ययन) भी परमार्थलाभ में सहायक सिद्ध नहीं होता। तु० कठोपनिषद्—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

10- यद्यपि प्रभु के आधार को मन में धारण कर लिया है, तथापि पर्याप्त समय बीत जाने पर भी कोई फल जब दृष्ट नहीं हुआ तो मन चंचल हो रहा है, उसकी एकान्त निष्ठा भी धीरे-धीरे छूट-सी रही है।

11- संसार में सभी कुछ शक्ति पर अवलम्बित है। शक्ति से ही सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस की प्राप्ति सम्भव है। यदि शक्ति नहीं है तो न तो संसार में प्रगति सम्भव है, न परमार्थ का लाभ ही हो सकता है। जर्मन दार्शनिक नीत्से का दर्शन शक्ति पर ही अवलम्बित है शाक्तों का शक्तिवाद प्रसिद्ध ही है। साधन के क्षेत्र में मनोबल को पर्याप्त महत्व दिया गया है, तु० उड्डीशतन्त्र।

12- अत्यधिक विलम्ब से ईश्वराराधन करते रहने पर भी प्रभु की दया नहीं दिखी। इससे अच्छा तो वह संसार ही है जहाँ 'गरीबों का बन्धु' कहलाने वाला कोई समर्थ (प्रभु) नहीं है जिसकी आराधना और पूजा करनी पड़ती है।

13- हे संसार के मालिक, तुम्हारी प्रार्थना करने का भी मेरे लिए कोई फल नहीं है। वह भी निष्फल सिद्ध हो रही है।

१४- अतः सभी ओर से निराश होकर अब चित्त उदासीनता से भर गया है और तुम में जो मेरी श्रद्धा और निष्ठा थी, हे परमेश्वर, अब वह भी धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।

14- जितने भी उपाय साध्य हो सकते थे उन सभी का प्रयोग किया, किन्तु सभी निष्फल रहे, कोई फल नहीं निकला।

15- व्यक्ति मोह से ग्रस्त हो, अन्धकार में डूबता-उतराता समर्थ, शक्तिमान् में आशा लगाये बैठा रहता है कि वह उसकी सहायता करेगा। किन्तु वह निष्करुण और निष्ठुर हो, कुछ भी सहायता नहीं करता (तु० त्वं निष्ठुरः किन्तु दयालुनामा)।

16- यदि मनुष्य को किसी वस्तु का अभाव न हो तो वह आराध्य की शरण (प्रपत्ति) में न जाय या दुःखी (प्रपन्न) न हो। अभाव को पूरा करने के लिए ही मनुष्य भाव्य की भावना करता तथा भक्ति-साधन में प्रवृत्त होता है।

17- दीनता, गरीबी, आर्त्ति, दुःख से बेधा गया व्यक्ति ही समर्थ की पूजा करता है, जो दुःखी नहीं है वह समर्थ की पूजा क्यों करेगा ?

18- यह प्रभु के प्रति व्यंग्य है। आशय यह कि जब संसार में सभी को तुम दुःखी और क्लेशों से ग्रस्त देखते हो तो तुम यह चाहने लगते हो कि लोग आकर मेरी समाराधना (पूजा, स्तुति) करें तो मैं उनके ऊपर दया करूँगा, उनकी सहायता करूँगा।

1- संसार के दुःखों को देख कर यदि यह कहा जाय कि संसार के सभी प्राणियों का दुःख उनके पूर्व जीवन में किये कर्मों के फलोपभोग के लिए ही है (तु० अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्), और यह सम्पूर्ण सृष्टि प्राणियों के कर्म-फलों के भोग के लिए ही, अदृष्ट के अनुसार विहित हुई है (द्र० ब्रह्मसूत्र, 2/1/34, बृ० उ० 3/2/13) तथा प्राणी इसी कर्म फलों के भोग के लिए बार-बार जन्म लेते और योनियाँ ग्रहण करते हैं—(पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्), तो यह कथन भी असमंजस (इनकंसिस्टेंट) ही है, क्योंकि कर्म-विपाक के सिद्धान्त में अनेकविध दोष आपतित होते हैं ।

यह लेखक का अपना मौलिक सिद्धान्त है और यहां कर्म-विपाक की सिद्धि में उपन्यस्त या सम्भाव्य सभी सामान्यतः उपलभ्यमान तर्कों को एक-एक कर खण्डित किया गया है ।

2- सृष्टि के प्रारम्भ में जब कोई कर्त्ता, भोक्ता (जीव, प्राणी) नहीं था तो उस समय भोक्तृ-भोग्य-व्यवस्था की सम्भावना कैसे की जा सकती है । सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, असदेवेदमग्र आसीत् प्रभृति वाक्य इसी ओर संकेत करते हैं । उस समय सभी कुछ असत् (अव्याकृत-अनमैनीफेस्ट) ही था तथा केवल सत् ब्रह्म तत्त्व ही विद्यमान था । ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त (10/129/2) से भी यही संकेत मिलता है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ।।

3- जब सभी कुछ ईश्वरमय है और उसी से, उसी की शक्ति से समुद्भूत हुआ है तो कर्म और उसके विपाक (फल) भी उसी से निःसृत हुए । अतएव जीव कर्म करता है । इसीलिए कर्म-फलों (अदृष्ट) के अनुसार ही उसका शरीर और भोग होता है—यह प्रारब्ध कर्म-भोग का सिद्धान्त समीचीन नहीं है ।

4- ईश्वर या ब्रह्म सर्वत्र वर्तमान, सर्वगत (आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः, श्वेताश्वतरोपनिषद्) तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् में अन्तर्यामी है जो सभी का नियमन करता है (यमयति, बृहदारण्यकोपनिषद्) । एक ब्रह्म या आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है और सभी वस्तुओं में समान रूप से अनुस्यूत है ।

5- जब प्रभु सर्वत्र व्यापक, सर्वगत और सर्वत्र विद्यमान है तो कारक (कर्म करने वाला) उससे व्यतिरिक्त दूसरे की संज्ञा नहीं हो सकती । मूलतः प्रेरक होने के कारण वही कारक भी है । अतः जीव के कर्म-विपाक की साधुता असिद्ध ही है ।

6- जीव ने जिस व्यवस्था में, जिस शरीर से पूर्व जन्म में कर्म किया था, यदि वे अब भी वर्तमान होते तो जीव का कर्म-भोग माना जा सकता था, किन्तु उसके अभाव में उसके कर्म-भोग की समीचीनता उत्पन्न नहीं होती ।

7- आशय यह कि पूर्व जन्म में किए गए कर्मों से नियत किये जाने वाले अदृष्ट का ज्ञान इस जन्म में जीव को नहीं रहता और ज्ञान के अभाव में शुभाशुभ कर्म-फलों का भोग न्यायोचित किस प्रकार कहा जा सकता है ?

8- सृष्टि, स्थिति और संहृति—ये ही ईश्वर के कर्म हैं जिन्हें ब्रह्मसूत्रकार ने 'जगद्-

व्यापार' शब्द से बताया है (4/4/17)।

9- विवेक के न रहने पर कृत्याकृत्य, शुभाशुभ, उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता और ज्ञान के न रहने पर दण्डभोग की यथार्थता भी असिद्ध ही है।

10- जब सभी कुछ प्रभु की लीला ही है, प्रभु सर्वत्र व्याप्त है तो बन्धन भी उससे भिन्न, पृथक् दूसरा नहीं हो सकता। यह उस ईश्वर का अन्याय ही है कि उस (मनुष्य) के वास्तविक (विशाल) स्वरूप को छोड़ कर उसमें क्षुद्र अहन्ता धारण करायी गयी है।

—3—

1- कर्म, संसार, दूसरे व्यक्तियों या ईश्वर का उपजीव्य होना यानी आश्रित होना अतीव अनर्थकारी है। लेखक के अनुसार संसार की सबसे जघन्य वस्तु यह आश्रितभावना या उपजीव्यता ही है। सभी शास्त्र, दर्शन, उपदेष्टा, सन्त यही उपदेश देते हैं कि अपना उद्धार स्वयं करना चाहिए—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। (गीता)। बुद्ध भी इसीलिए कहते हैं, भिक्षुओ, तुम आत्म-दीप, आत्मशरण बनो, अनन्यदीप, अनन्यशरण होवो (महापरिनिब्बानसुत्त, अत्तदीपसुत्त)। दर्शन और साधन-मार्ग का चरम लक्ष्य आत्म-स्वरूप साक्षात्कार और तत्त्व की स्वरूप-स्थिति ही है जो परोपजीव्य भाव द्वारा लक्ष्य नहीं है। इसीलिए आगे चलकर 'पौरुष' को ही प्रमुखता दी गयी है—सत्येवं करणीयं किं, पौरुषमिति।

2- और मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि भी नहीं डाल रहे हो।

3- द्र० शारीरक भाष्य, 1/1/2.

4- जो इतनी प्रार्थना किये जाने पर भी नहीं सुन रहे हो।

5- प्रपन्न का अर्थ है भक्त जो सर्वतोभावेन स्वयं को अपने भाव्य को समर्पित कर देता है। तु० वैष्णव प्रपत्ति-मार्ग।

—4—

1- पीछे शक्ति की श्रेष्ठता और उपजीव्यता के परिहार पर विशेष रूप से बल दिया गया है। लेखक का विचार है कि पौरुष के बिना परमार्थ का लाभ भी सम्भव नहीं है। संसार के सभी रूप अनित्य अध्रुव, क्षणिक, दुःखात्मक और परिवर्तनशील हैं। द्वैतजाल से ही सारा जागतिक उच्चावच प्रपंच उत्थित होता है। सारा विश्व द्वैतात्मक है। जहाँ द्वैत है वहीं भय की स्थिति भी रहती है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृहदारण्यकोपनिषद्) जब तक सन्देहापगम और तत्त्वनिश्चय नहीं हो जाता तभी तक द्वैत की स्थिति और संसार का भान रहता है। सन्देह (संशय) के अपगत हो जाने पर ही विमल शिवता प्रकाशित होती है।

2- अपने स्वरूप के विषय में संशय होने से ही बन्ध होता है। यदि अपने विषय में सन्देह नहीं है तो आत्मा अपने विमल, नित्य, शिव स्वरूप में सदा स्थित रहेगा।

3- संसार के सभी विषय पतन की ओर अभिमुख करने वाले, क्षणिक और मिथ्या हैं। संसार की ओर अभिमुख करने वाली इस पतन-वृत्ति का शमन ही आत्म-कल्याण का आदिम सोपान है।

4- आत्मा मूलतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, सम, शान्त और अद्वैत तत्त्व है। हृदयाकाश या दहर-पुण्डरीक को ही आत्मा या ब्रह्म का वास-केन्द्र बताया गया है (द्र०

शारीरक भाष्य-दहराधिकरण)। तत्त्व निर्विकल्प, निःसङ्ग और शिव स्वरूप कहा गया है। यह 'शिवता का प्रकाश' शैवागमों की विचारधारा से अभिन्न रूप से सम्बन्ध है।

5- चित् का पंच-कंचुक और मलों से आवरण रूप सङ्कोच ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन में बन्ध कहा गया है। तु० 'चितिरेव चेतनपदादवरूढा चैत्यसङ्कोचिनी चित्तम्' (प्रत्यभिज्ञाहृदय 8)।

6- यही प्रज्ञा, सम्यग-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन, प्रतिभा, व्यवसायात्मिका बुद्धि, विवेक-ख्याति, परप्रसङ्ख्यान, तत्त्व-प्रत्तिपत्ति, विद्या प्रभृति शब्दों से नानाविध शास्त्रों में वर्णित हुई है।

7- शङ्कराचार्य ने अनादि काल से प्रवर्तित, अविद्यात्मक, अहंममभावसमन्वित जगद्व्यापारमूलक अध्यास का लक्षण इस प्रकार किया है— स्मृतिरूपः परत्र पूर्व-दृष्टावभासः अर्थात् पहिले देखी गयी वस्तु की स्मृतिवशात् अन्यत्र अन्य वस्तु में उसके (पूर्वदृष्ट) रूप का आभास, जैसे, प्रकाश में सीपी में चांदी का भान या रस्सी में अन्धकार के कारण सर्प-भाव की प्रतीति। यही अविद्या है। अध्यास-प्रकरण में आचार्य शङ्कर ने अध्यास के स्वरूप का निष्कृष्ट वर्णन इस प्रकार दिया है— सर्वथापि त्वन्यस्य अन्यधर्मविभासतां न व्यभिचरति।.....अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यास इत्यवोचाम। अर्थात् जिस दृष्टि से भी विचार करें एक वस्तु की दूसरे वस्तु के धर्मों के रूप में भ्रासित होना अध्यास का यह स्वरूप किसी भी रूप में व्यभिचरित नहीं होता। जो जैसा नहीं है उसे उस रूप में ग्रहण करना ही अध्यास है। अध्यास की इस जगद्व्यापी प्रक्रिया से सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेयव्यवहार (सम्पूर्ण विचार-प्रणाली), लौकिकसरणियां, वेदिकमार्ग और मोक्ष-विधियां तथा दर्शन-शास्त्र भी अनुप्राणित हैं।

8- तु० चन्द्रकीर्त्ति, मध्यमकावतार, 6/120 :

सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयं च मत्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव॥

तथा, बोधिचर्यावतार, 9 :

दुःखहेतुरहङ्कार आत्ममोहात्तु वर्धते।

9- स्वस्थ का अर्थ है- अपने स्वरूप में स्थित होना यानी आत्मा की उपाधिकृत मलिनता का निरास कर उसके विमल स्वरूप का आविर्भाव—'अविद्याकामकर्मोपदानहेतुनिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः।' (तैत्तिरीय उप०, शा० भा०); 'रोगार्तस्यैव रोगनिवृत्तौ दुःखात्मकस्यात्मनः प्रपाञ्चोपशमः स्वस्थता '(माण्डूक्यभाष्य, उपोद्घात)।

—5—

1- द्र० गीता, शांकरभाष्य, 2/41।

2- व्यवसाय का अर्थ है निश्चय यानी किसी विशेष विषय में सक्ति। इससे आत्मा का निरुपाधिक स्वरूप मलिन और संकुचित हो जाता है। अतः व्यवसाय का तिरोधान ही परमार्थ में हितकर है।

3- अर्थात् सारा जगद्-व्यवहार ही व्यवसाय है।

4- अवतार का अर्थ है— ऊँचाई से नीचे उतरना अर्थात् परमतत्त्व का अधोगति को प्राप्त होना।

5- तु० छान्दोग्य उपनिषद्—यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं ॥

6- निर्विकल्प परतत्त्व की विस्मृति से ही सर्वत्र संसार में अज्ञान, विकल्प, प्रपंच, संकोच और अविद्यात्मकता का साम्राज्य है।

7- तु० वेदान्त—उपहित आत्म-तत्त्व ही जीव है (द्र० वेदान्तसार, वेदान्त परिभाषा)।

8- यानी बुद्धि और विवेक से ही अहम्भाव का निरास होता है और अन्त में वह विवेक भी नहीं रह जाता। द्रष्टव्य— वेदान्तसार, अहं ब्रह्मास्मि प्रकरण, शारीरक भाष्य, 2/1/14।

9- क्योंकि सभी कुछ बुद्धि द्वारा विकल्पित होता है।

10- तु०—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय इत्येते दर्शनहेतवः॥

11- यह लेखक का दूसरा राजनीति विषयक मौलिक संस्कृत (पद्यात्मक) ग्रन्थ है।

12- तु०—अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः॥
जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ।
(पराशरोपपुराण)

तथा—

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
हेत्वागमसदाचारैर्यदयुक्तं तदुपास्यताम्॥ (मोक्षधर्म)॥

—6—

1- यह अद्वैत स्थिति को प्राप्त हुए योगी, स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त के स्वभाव का वर्णन है।

—7—

1- तु०—अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः॥

2- तु०—शङ्कराचार्य :
न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कथं स्यात्
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्।
न शून्यं न चा शून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि॥ (दशश्लोकी)।

3- तु० मुण्डक उपनिषद्—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

4- तु० एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन। —छा० उ०।

तथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक उप०)॥

5- तु० माण्डूक्यकारिका, अमनीभाव (अलातशान्तिप्रकरण)।

1. तु० शङ्करचार्य
   अविद्याकामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः (तैत्तिरीय उपनिषद्, शाङ्कर भाष्य, उपोद्घात) ।

2. तु० शङ्कराचार्य :
   सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
   सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

—:००:—

श्लोकानामनुक्रमः

(पृष्ठ-श्लोकसङ्ख्यानुगतः)

अटव्यामटव्या	5/6	चित्तत्वं सर्वगं	24/82
अतएव पुनः	28/95	जगन्नाथद्वारे	5/5
अदृष्टस्याश्रुतस्य	18/58	जगल्लीलाशीला	2/5
अध्यासबुद्धि	16/43	जीवत्वं पतनं	28/93
अनन्ते यदा	23/78	जीवं विलोक्य	18/53
अनादिकालाद्धि	10/23	तवालम्बनादेव	5/7
अनादीति कर्मास्ति	9/8	त्वं निष्ठुरः	11/25
अनुदिनं	14/36	त्वमेको न	9/20
अनृतं मन्यते	17/50	द्वैताधिपत्यं	23/79
अभावान्मनुष्यः	6/12	द्वैते चिदचित्	24/81
अयाचितः सन्	12/32	ध्याता न ध्येयो	22/75
अभिरुचिर्भवतः	14/37	न चेदक्त्वभावो	22/77
अरूपा हि	25/85	न धर्मे रतिः	20/67
अवतारं सर्वं	17/49	न पश्यामि	5/8
अशक्तस्य	6/9	न प्रारब्ध	8/14
अशुचिरेव	15/40	न भोगेहि	20/69
असदहंव्यपदेश	15/42	न मे बन्धु	20/66
अहंबुद्धिर्यदा	18/45	न वा तद्	8/16
अहं विमर्शस्	26/90	न वैराग्यवाञ्छा	20/68
आत्मानमीडे	27/91	न संकोच	22/76
आवरणावृतो	18/52	नाहं प्रभो	13/34
इदञ्चापि	9/19	निरालम्बो	1/2
कथं क्षमावानुत	12/31	निराश मदीया	6/11
कथं बुद्धिपूर्वं	12/29	निर्विकल्पे विकल्पत्वं	17/51
कथं श्लाघनीयं	8/17	निर्विकल्पो निराकारः	18/56
किं चित्तवृत्ति	16/45	पदं पारहंस्यं	21/71
कृतं किं	10/22	प्रभुर्न्यायतो	11/27
कृपा पारमेशी	11/28	प्रभो लक्ष्मी	1/4
क्रियाशीलता	24/84	प्रसादाद् बाबा	2/8
क्षमता धीरता	6/13	बलवती पशु	14/38
गृहस्थाश्रमे	4/2	बुद्ध्या बुद्धि	19/61
गृहे नैव शान्ति	21/70	बुद्धेः कार्यं	17/46

बैन्दवी यानुभूतिः	18/57	याचे न	28/96
भगवति महदाख्ये	27/92	यावदेवं तु जीवत्व	15/55
भयपदं भयभीत	15/39	विदेहस्त्वं बाबा	1/3
भवदीयदयाबल	28/94	विमुक्ति गतो	12/30
मदीयं गतं	0/21	विशीर्णे विजीर्णे	26/89
मदीया शरीर	4/3	शरीरे शुभे	26/88
मनो नाम	16/44	शास्त्राणां भाव	19/63
मनोवृत्तिसोपान	26/87	सद्ग्रन्थसूक्तिः	13/33
मनस्त्वय्यशोके	21/72	सदाचारं विना	19/62
मया प्रार्थितः	4/1	समीचीनमेतत्	11/26
मया याचिता	5/4	सर्वं तद् व्यवसायः	17/47
महदनर्थकरं	14/35	सर्वाण्येव च	19/64
महर्षे त्वां	2/7	सम्प्रज्ञातं हृदय	23/80
महात्मन्निःसीमं	2/6	सृष्टिर्विचित्रा	10/63
महाभूतमयं	17/48	स्वरूपं निर्विकल्पं	18/59
महाराज श्रीमन्	1/1	स्वरूपाद् बहिः	25/86
मुण्डे मुण्डे	19/65	स्वरूपाद् भिन्न	19/60
यत्र द्वैता	21/73	स्वरूपं शब्द	22/74
यथा निष्फलं	6/10	हृदयदेशगते	15/41
यदा पूर्णकामः	24/83	हृदि त्वं	8/15

अटव्यामट
अतएव पुन
अदृष्टस्याश्र
अध्यासबु
अनन्ते यद
अनादिका
अनादीति
अनुदिनं
अनृतं मन
अभावान्म
अयाचित
अभिरुचि
अरूपा हि
अवतारं
अशक्तस्य
अशुचिरे
असदहंव
अहंबुद्धि
अहं विम
आत्मानम
आवरण
इदञ्चा
कथं क्षम
कथं बु
कथं श्ल
किं चित्त
कृतं किं
कृपा पार
क्रियाशी
मता धी
गृहस्थाश्र
गृहे नैव

कवि-परिचय

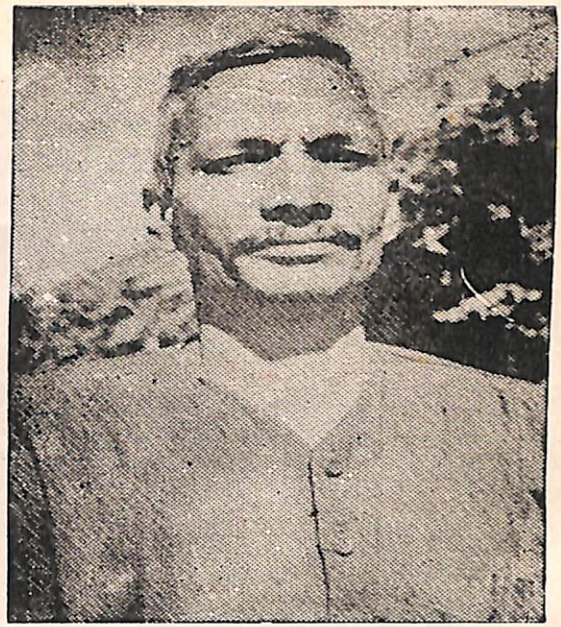

ग्राम कनइल, जनपद गोरखपुर के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में 1905 ई० में जन्म; प्रारम्भिक, उच्च शिक्षा गोरखपुर (सेण्ट ऐण्ड्रयूज कालेज) एवं लखनऊ विश्वविद्यालय; 1932 में एम. ए., एल् एल्. बी., शास्त्री-की परीक्षायें ससम्मान उत्तीर्ण; 1933 1935; 1940-1943 वकालत; 1936-1939 1944-1955 विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उच्चपदासीन; 1955—वकालत : मृत्यु 5 अप्रैल 1979 ।

अन्य रचनायें—गङ्गाजलि 1943; राष्ट्रतन्त्रम् (1968, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत); तत्त्वभारती (प्रकाशनाधीन) ।

नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान

के

अन्य प्रकाशन

प्रज्ञालोक
नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान
की
त्रैमासिक शोध पत्रिका

वार्षिक मूल्य 25/-

Prajnaloka Journal of the Nagarjuna Buddhist Foundation : Annual Subscription Rs. 25/-

सम्पर्क सूत्र

नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान
18, अँधियारी बाग, गोरखपुर-273001.

दूरभाष : 3258